सर्वस्व ग्रन्थमाला का पंचम कुसुम

अग्निहोत्र-सर्वस्व

श्रूयतां होत्रसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
पय एवेति होत्राय, मोक्षाय न ममेति च॥

दीक्षानन्दः

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

मनु० 3.76

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्न सम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

गीता 3.14

दीक्षानन्द सरस्वती

अग्निहोत्र सर्वस्व

विषय-सूची

प्रकाशकीय

मुझे अत्यन्त हर्ष है कि 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी' पर मेरी वर्षों की साध पूरी हुई। जब से मैंने प्रचार-क्षेत्र में पदार्पण किया, बृहद् यज्ञसत्रों का आयोजन, संयोजन अथवा संचालन किया, तब से यज्ञविषयक अनेक प्रश्न उठते रहे, शंकाएँ उठती रहीं, उनपर ऊहापोह करके समाधान उपस्थित करता रहा। सर्वत्र उसका स्वागत होता। श्रोतृगण भावविभोर होकर जब इन विचारों को लेखबद्ध करने का आग्रह करते तो मन-ही-मन सोचता कि न जाने विद्वत्समाज इसे स्वीकार भी करेगा कि नहीं? इसके खरे-खोटे की पहचान तो विद्वत्समाजरूप कसौटी ही है। सो आज "अग्निहोत्र सर्वस्व" ग्रन्थरत्न विद्वत्समाज के हाथों में है, इसे जाँचें और परखें, और जो खोट हो उसे निकाल बाहर करे, जिससे कि इसमें निखार आ जाए, अगला संस्करण शुद्ध संस्करण हो सके।

तीन प्रश्न-

कर्मकाण्ड के अन्तर्गत प्रायः तीन प्रश्न उठाये जाते हैं-क्या? कैसे? क्यों? अर्थात् अमुक कर्म का विधान क्या है? कैसे है? और क्यों है? हमारा विषय है ***अग्निहोत्र***। तद्विषयक प्रश्न उठेगा कि अग्निहोत्र क्या है? वह कैसे किया जाये? अग्निहोत्र और उसके अन्तर्गत विविध प्रक्रियायें क्यों की जायें? हमने अपने ग्रन्थ में 'क्या' और 'कैसे' की अपेक्षा 'क्यों' के समाधान पर अधिक बल दिया है, जैसे कि अग्निहोत्र क्यों? वह त्रिवृत् क्यों है? उसमें तीन ही समिधा क्यों है? दूसरी समिधा के लिए दो मन्त्र

क्यों? 'अयं त इध्म आत्मा....' मंत्र से पाँच बार आहुति क्यों? कुण्ड के चारों ओर जलप्रोक्षण क्यों? प्रातः काल सूर्यदेवता के नाम पर और सायंकाल अग्निदेवता के नाम पर आहुतियाँ क्यों? यज्ञकुण्ड नीचे से चतुर्थांश, ऊपर से चतुर्गुणित क्यों? यज्ञकुण्ड के चारों ओर बनी हुई मेखलाएँ तीन ही क्यों, इत्यादि। इसका यह अभिप्राय कभी नहीं कि हमने क्या और कैसे प्रश्नों को छोड़ दिया है। इन प्रश्नों की समाधान-भूमि पर ही 'क्यों' प्रश्न का समाधान अवलम्बित है। हाँ, उन दोनों प्रश्नों पर अधिक लिखना इसलिए उपयुक्त नहीं समझा कि उनपर अन्य विद्वानों द्वारा पर्याप्त लिखा जा चुका है। यदि हम क्या और कैसे प्रश्नों को सर्वथा छोड़ देते तो ग्रन्थ के नामकरण में सर्वस्व पद का प्रयोग नहीं कर सकते थे। ***"अग्निहोत्र सर्वस्व"*** में हमने पर्याप्त प्रश्नों का समाधान किया है। जो प्रश्न छूट गये हैं वे ग्रन्थ के द्वितीय भाग में सम्मिलित किये जायेंगे। पाठक जब इस ग्रन्थ का अवलोकन करेंगे तो कुछ-एक व्यक्ति हमारे द्वारा किये गये समाधानों को काल्पनिक कहेंगे। उनकी सेवा में हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि इस शास्त्र का नाम ही ***"कल्प शास्त्र"*** है- जो कुछ ब्रह्माण्ड और पिण्ड में है उसको कर्मकाण्ड में कल्पित करके दिखाना यहाँ कल्पना का महत्त्व है। अन्ततः कल्पसूत्रकारों ने भी तो समस्त विधि-विधानों की कल्पना ही तो की है। व्यर्थ ही कल्पना के नाम से भयभीत होना उचित नहीं। फिर मन का तो काम ही कल्पना करना है। इतना अवश्य है कि वह कल्पना सम्-पूर्वक हो-संकल्प हो; विकल्प न हो, निराधार न हो। हमने तो अपने गुरुवर्य श्री पं० बुद्धदेव विद्यालंकार (श्री स्वा० समर्पणानन्द जी) के ही पथ का अनुसरण किया है।

कृतज्ञता-प्रकाशन-

सर्वस्व-ग्रन्थमाला के सभी कुसुम, जो अबतक विकसित हुए हैं और जो आगे होंगे, उनमें गुरुवर्य की शैली का ही प्रयोग

किया गया है। उनसे प्राप्त विचारांकुर ही पल्लवित और पुष्पित हुए हैं। शंकाओं के उठने पर उनके द्वारा लिखित साहित्य के समाधान प्राप्त हुए हैं। उनके द्वारा बनाये गये शब्द-आयामों में यदि अपने समाधान समाहित पाये हैं तो हमने निःशंक होकर व्याख्यान-मंच से कह दिया है और लेखनी द्वारा लिख दिया है। उदाहरणतः उनके द्वारा की गई 'यज्ञ' शब्द की व्याख्या यज्ञ के गौरव को बढ़ाने वाली है, उससे यज्ञ केवल एक रूढिगत क्रिया मात्र नहीं रह जाती, प्रत्युत सर्वत्र होकर प्रत्येक क्षेत्र की यज्ञरूपता प्रकट करता है।

यज्ञ शब्द की व्याख्या में वे लिखते हैं कि-

'सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः'

इस व्याख्या से प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्म को परखने की कसौटी हाथ लग जाती है, इस पर ठीक उतरने पर कोई कर्म ग्राह्य है,

बहुदक्षिणा यज्ञ का प्रसाद

सन् १९८१ के ८ नवम्बर से ६ दिसम्बर तक चतुर्वेद ब्रह्मपारायण महायज्ञ का आयोजन हुआ, जिसके यजमान श्री चरतसिंह वर्मा थे। ब्रह्मा पद के लिए मेरा नाम प्रस्तावित था। गौतम नगर स्थित गुरुकुल का विशाल प्रांगण यज्ञवेदि के लिए निश्चित था, जिसके आचार्य-पद पर पं० हरिदेव जी प्रतिष्ठित हैं। यज्ञ सतत एक मास चला और सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। उसकी सबसे बड़ी विशेषता विद्वानों का सत्कार था-प्रभूत मात्रा में दक्षिणाप्रदान था। इससे उस यज्ञ का नाम ही 'बहुदक्षिणा यज्ञ' हो गया।

उसमें प्राप्त दक्षिणा को मैंने यज्ञ-प्रसाद माना, जिसे अकेला खाना उपयुक्त न मानकर सबको बाँटकर खाने का विचार किया। उसका उपाय यही समझा कि उसी राशि से ***'अग्निहोत्र-सर्वस्व'*** ग्रन्थ प्रकाशित किया जाये, यज्ञ की वस्तु

यज्ञ के ही अर्पित हो। यह ग्रन्थरत्न जनता-जनार्दन के हाथों में हैं वे इसे यज्ञ का प्रसाद समझकर पढ़ें और विचार करें। अन्त में होत्रसर्वस्व का वर्णन कर समाप्त करते हैं-

श्रूयतां होत्रसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
पय एवेति होत्राय मोक्षाय न ममेति च॥

यह कहना तो धृष्टता होगी कि हमने अग्निहोत्र के विषय में सब-कुछ लिख दिया है। कोई व्यक्ति सब-कुछ लिख भी कैसे सकता है! ***न हि सर्वो सर्वं जानाति***। फिर यह प्रथम भाग ही तो है। इस बार तो हम केवल अग्निहोत्र-नाटिका के कुछ ही पात्रों को अभिनयार्थ वेदि-मञ्च पर लाए हैं- अग्नि, समिधा, आज्य और हवि-पात्रों को। यदि दर्शकवृन्द को इनका अभिनय पसन्द आया तो अगली बार अन्य पात्रों को अभिनयार्थ लेकर उपस्थित होंगे। अच्छा, तब तक के लिए आज्ञा।

'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी' पर छोटे-मोटे दस ग्रन्थों का प्रकाशन कभी सम्भव न होता यदि अनिकेत संन्यासी को अग्निहोत्री-परिवार ने अपने 'प्रयाग निकेतन में' सब प्रकार की सुख-सुविधा प्रदान न की होती। मेरे इस परिवार के लिए अनेक आशीर्वाद एवं साधुवाद हैं। यह परिवार जहाँ धन से बढ़े, वहाँ धर्म-धन से भी बढ़े।

इत्योम् शम्

दीपावली
वि॰ संवत् २०५८ — दीक्षानन्द सरस्वती

उत्थानिका

वैदिक संस्कृति को यदि एक शब्द में उपसंहृत करना हो, तो वह शब्द है-**यज्ञ**। पौर्णमास से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों तक का वितान इसका सूचक है। फिर इन यज्ञों के वितान को भी उपसंहृत करके पञ्चमहायज्ञों में समेट दिया गया है। भगवान् मनु का आदेश है कि- **'पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्।'**

मुझे यदि भगवान् मनु द्वारा आदिष्ट इस श्लोकार्ध के परिवर्तन की अनुमति दे दी जाये, तो मैं लिखूँगा- **'षडैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्'**-यथाशक्ति कोई भी गृहस्थ इन छः महायज्ञों के करने में कभी प्रमाद न करे। यहाँ ब्रह्मयज्ञ में स्वाध्याय के साथ सन्ध्या भी गृहीत है, इसलिए हमने पञ्च के स्थान पर षट् का प्रयोग किया है। इन छः महायज्ञों को पूर्व और उत्तर दो अर्धों में विभक्त किया जा सकता है। यदि पूर्वार्ध में तीन महायज्ञ हैं, तो उत्तरार्ध में भी तीन ही हैं। पूर्वार्ध की समाप्ति अग्निहोत्र की अग्नि में आहुति देने से होती है, तो उत्तरार्ध की समाप्ति जठराग्नि में आहुति देकर। यथा अग्निहोत्र की अग्नि में आहुति देने से पूर्व सन्ध्या और स्वाध्याय करना अनिवार्य है, तद्वत् जठराग्नि में आहुति देने से पूर्व बलिवैश्वदेव-यज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृ-यज्ञ करना अनिवार्य है। इस प्रकार छः महायज्ञ पूर्व और उत्तर, दो अर्धों में विभक्त

हो गये। इन छः यज्ञों का क्रम और नाम इस प्रकार है: १. सन्ध्या, २. स्वाध्याय, ३. देवयज्ञ, ४. बलिवैश्वदेवयज्ञ, ५. अतिथियज्ञ, और ६. पितृयज्ञ।

ब्रह्मयज्ञ में 'ब्रह्म' शब्द के कारण स्वाध्याय और सन्ध्या दोनों यज्ञ गृहीत है। महाभारत में 'ब्रह्म' शब्द से परब्रह्म और शब्दब्रह्म दोनों ही गृहीत समझे गए हैं; तद्यथा-**द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द-ब्रह्म परञ्च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥**[1] शब्दब्रह्म (वेद) का चिन्तन **स्वाध्याय** है और परब्रह्म का चिन्तन **सन्ध्या** है। इन पंक्तियों में स्वाध्याय-यज्ञ पर कुछ न कहकर शेष पञ्चमहायज्ञों की महत्ता के बारे में कुछ कहेंगे।[2]

द्विधाविभक्त महायज्ञों के पूर्वार्ध के स्वाध्याय को छोड़कर **सन्ध्या, अग्निहोत्र** और उत्तरार्ध के **बलिवैश्वदेव, अतिथि** और **पितृ** ये पाँच यज्ञ रह जाते हैं। इन महायज्ञों को दो भागों में विभक्त करना सोद्देश्य है। पूर्वार्ध के दोनों महायज्ञ यजमान की तैयारी के हैं, उत्तरार्ध के तीनों महायज्ञ परीक्षा के हैं, कसौटी हैं, जिनपर यजमान की जाँच होनी है, उसका खरा-खोटापन आँका जाना है।

यजमान जिन दो पाठों का अभ्यास करता है, उनमें से पहला है-द्वेष-भाव का उन्मूलन, और दूसरा है- ममत्व का उन्मूलन। वैदिक मनीषियों ने जहाँ एक ओर सन्ध्या के माध्यम से द्वेषनिवारण का उपाय किया है, वहाँ अग्निहोत्र के माध्यम से ममत्व के उन्मूलन का उपाय किया है। सन्ध्या-मन्त्रों में छः बार **'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः'** की आवृत्ति है, तो अग्निहोत्र में सत्रह बार **'न मम'** की आवृत्ति है। **यजमान की यह मनःस्थिति आनी चाहिए कि वह प्राणिमात्र के प्रति द्वेषभाव को त्यागकर मैत्रीभाव का विस्तार करे।** अपने-पराये

1. महाभारत १२।२२४।६०, १२।२६३।१; मैत्रायण्युपनिषद् ६।२२
2. स्वाध्याय पर लेखक की 'स्वाध्याय-सर्वस्व' पुस्तक का अवलोकन करें।

का भाव समाप्त कर समस्त वसुधा को परिवार समझे। ऐसा समझते ही ममत्व का महल स्वतः ही ढह जाएगा। अतः ये दोनों पाठ आवश्यक हैं। जब तक यजमान इन दोनों पाठों का अभ्यस्त न हो जाये, तब तक यज्ञों से छुटकारा सम्भव नहीं। ये आमरण चलते रहते हैं।

हमने ऊपर पाँचों ही यज्ञों के साथ महान् शब्द का प्रयोग किया है। समय और द्रव्य की दृष्टि से विशाल अश्वमेधादि यज्ञों को महायज्ञ नहीं कहा गया, केवल यज्ञ कहा गया है। इसके विपरीत ब्रह्मयज्ञादि पञ्चों को महायज्ञ कहकर गौरवान्वित किया गया है। यह जान लेना भी आवश्यक है कि इनके साथ 'महान्' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है? इनकी महत्ता का क्या कारण है?

पञ्चयज्ञों की महत्ता के कारण-बिन्दु

१. गृहस्थमात्र के लिए अनिवार्य होने से।
२. जरामर्यसत्र होने से।
३. दैनिक आत्मनिरीक्षण का साधन होने से।
४. नास्तिकता के उन्मूलक एवं आस्तिकता के सम्पोषक होने से।
५. व्यक्ति के आत्म-विकास में सहायक होने से।
६. अरातिभाव के उन्मूलक तथा दान-भाव के सम्पोषक होने से।
७. त्रिविध ऋणों से मुक्ति का साधन होने से।
८. सम्पत्ति के सहज विनिमय का साधन होने से।
९. समाज के विराट्रूप का उद्भावक होने से।
१०. अन्ततः आत्माहुति का प्रेरक होने से।
११. सत्यरूप आहुति का सम्पादक होने से।

१. पञ्चमहायज्ञों की महत्ता का प्रथम प्रबल कारण इनकी अनिवार्यता है। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने महीनों चलने वाले अश्वमेधादि यज्ञ गृहस्थ के लिए अनिवार्य नहीं किये, अपितु कुछ क्षणों में सम्पन्न होने वाले यज्ञ अनिवार्य किये हैं। तद्यथा

'पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्'[१]। इनको छोड़ने से ऐसी आशंका की गई है कि कहीं गृहस्थ का कुल शूद्रत्व को न प्राप्त हो जाये।

२. इन पञ्चयज्ञों की महत्ता का द्वितीय कारण यह है कि गृहस्थ इन यज्ञों को एक दिन करके ही अपने कर्म की इतिश्री न समझ ले, अपितु इन्हें मृत्युपर्यन्त करता जाए, तभी ब्राह्मणकार ने इसे जरामर्य-सत्र कहा तथा लिखा- **'जरया वा एतस्मान् मुच्यते मृत्युना वा'** अर्थात् इनसे मुक्ति संन्यास ग्रहण करने पर हो सकती है या फिर मृत्यु होने पर; इसके अतिरिक्त इनसे मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं। इनके करने में निहित भावना यही है कि व्यक्ति नित्य-प्रति ऐसे पाठ का अभ्यास करे, जो आमरण पूर्ण नहीं होगा; यदि कदाचित् पूर्ण हो जाए तो उसी दिन से यह कर्म-काण्ड का बन्धन भी समाप्त समझा जायेगा, इसलिए कहा- **'जरया वा एतस्मान्मुच्यते'**।

३. इन पञ्चयज्ञों की महत्ता का तृतीय कारण यह है कि व्यक्ति नित्य-प्रति अपना आत्म-निरीक्षण करता रहे, जिससे वह अपने कर्म-पथ से कभी च्युत न हो। शतपथकार लिखता है- **'सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः'**[२], अन्यत्र **'अनृतसंहिता वै मनुष्या इति'**[३], अतः उसे सत्यमय बनने हेतु नित्य आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता होती है, जिनका विधान इन पञ्चयज्ञों में किया है। प्रातःकालीन तथा सायंकालीन सन्ध्या के समय वह अपने को परखने का प्रयत्न करता रहे। रात्रिकालीन किये गए पापकर्मों का क्षालन वह प्रातःकालीन सन्ध्या में करे तथा दिन-भर किये गए पाप-कर्मों का क्षालन सायंकालीन सन्ध्या में करे। नित्य निरीक्षण की इस भट्टी में अपने सभी मलों को धोता रहे।[४]

---

१. मनु० ६।६७, ६९ २. शत० १।१।४ ३. ऐ० १।६

४. पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥ मनु० २।१०२

४. पञ्चयज्ञों की महत्ता का चतुर्थ कारण नास्तिकता का उन्मूलन है। शास्त्रकारों ने नास्तिक की परिभाषा करते हुए कहा है कि जो वेदनिन्दक हैं वे नास्तिक हैं-'नास्तिको वेदनिन्दकः', परन्तु यहाँ हम इस नास्तिक-आस्तिक की परिभाषा को विस्तृत रूप दे रहे हैं। अपने से भिन्न अन्य प्राणियों में आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना नास्तिक-भाव है तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना आस्तिक-भाव। किसी भी व्यक्ति की यह नास्तिक प्रवृत्ति उसका चौमुखा ह्रास कराती है। वह न तो आत्म-विकास होने देती है और न आत्म-त्याग करने देती है। व्यक्ति नास्तिकता तथा अरातिभाव का शिकार हो जाता है।

पञ्चयज्ञों के द्वारा व्यक्ति धीरे-धीरे प्राणिमात्र में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने लगता हैं यह स्वीकृति ही उसे आस्तिक बनाती है; तब उसके आत्मभाव और दानभाव के पथ प्रशस्त होते हैं। अतः उसके नास्तिक-भाव और अदान-भाव का उन्मूलन स्वतः हो जाता है।

५. पञ्चयज्ञों की महत्ता व्यक्ति के आत्म-विकास में सहायक होने से भी है। आत्म-विकास 'वैदिक संस्कृति' की विश्व को अनूठी देन है; इसलिए इसके प्रत्येक सिद्धान्त में इसको लक्ष्य बनाया गया है। चाहे उसकी आश्रम-व्यवस्था हो, चाहे वर्णव्यवस्था हो, उसके षोडश संस्कार हों अथवा पञ्चमहायज्ञ, इन सबका ध्येय है-आत्म-विकास।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा किसी जलाशय के बीचों-बीच एक ढेला अथवा कंकरी फेंक देने पर जो वृत्त बनता है, वह धीरे-धीरे विकसित होता हुआ जलाशय की सीमा को छूने लगता है, मानो उस लघु वृत्त का यह ध्येय-धाम हो, ठीक यही अवस्था हम सब मनुष्यों की है। हम इस संसार-सागर में लघु वृत्तवत् हैं, जिस वृत्त का केन्द्रबिन्दु हमारा अपना स्वत्व है तथा परिधि-बिन्दु ब्रह्मानन्द है। परिधि-बिन्दु के स्पर्श करते ही आत्मा का पूर्ण विकास समझा जाता है।

आत्म-विकास की दो सीमाएँ हैं-एक आत्मा, दूसरी परमात्मा। प्राणिमात्र में आत्मदर्शन आत्म-विकास की पहली सीमा है। हर वस्तु में, जड़-चेतन में, अणु-अणु में ब्रह्म-दर्शन आत्म-विकास की दूसरी सीमा है। प्राणिमात्र में आत्म-दर्शन समत्वयोग कहलाता है। श्रीकृष्ण ने गीता (५।१८) में कहा है- **'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।'**

आत्म-विकास की इन दोनों सीमाओं को पञ्चयज्ञों ने अपने में समेट लिया है। अतिथि-यज्ञ में विद्याविनय-सम्पन्न ब्राह्मण और संन्यासी को, तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ में गौ, कुत्ते, तथा श्वपच तक को भोजन देकर जहाँ समत्वयोग का अभ्यास कराया जाता है, वहाँ आरम्भिक दो यज्ञों द्वारा द्यावापृथिवी के हर घटक में, उसके अणु-अणु में उस प्रभु की सत्ता का भान कराया जाता है। फिर तो ब्रह्माण्ड का प्रयेक घटक उसे ब्रह्म की ओर ले-जाने वाली झण्डियाँ दिखने लगती है-**देवं वहन्ति केतवः।**

६. पञ्चयज्ञों के महत्त्व का छठा कारण 'व्यक्ति के अदानभाव, स्तेय-भाव, कदर्य-भाव तथा अराति-भाव का उन्मूलन है' जिससे व्यक्ति में दानादि भावों का उदय हो। न केवल व्यक्ति को अभ्यास ही कराया जाता है, अपितु उसकी प्रतिदिन परीक्षा भी ली जाती है।

व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्यावस्था में केवल दो का, ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ का ही विधान है, यह उसकी अभ्यास-स्थिति है। गृहस्थ में पहुँचकर तो उसे शेष तीन यज्ञों द्वारा इस अभ्यास की जाँच करनी होती है। गृहस्थाश्रम परीक्षास्थली है। जब देखो तब परीक्षा-ही-परीक्षा है। परीक्षा का अवसर उस समय आता है, जब उसके सम्मुख भोजन की थाली उपस्थित होती है। थाली सम्मुख आते ही यदि यजमान का हाथ, ग्रास को अपने मुख की ओर ले जाये तो समझना चाहिए कि हाथों का सहंजभाव नहीं

गया, पशु-भाव नहीं गया।

अनन्त योनियों में मनुष्य ही वह योनि है जिसे दश अंगुलियों वाले दो कर मिले हैं। इन करों की सार्थकता दया, दान और दक्षिणा से ही है। यदि इन करों ने अपनी थाली के ग्रास को किसी भूखे प्राणी के मुख तक नहीं पहुँचाया, यदि इन करों ने किसी दुखिया के ज़ख्मों पर मरहम नहीं लगाया, यदि इन करों ने किसी दीन-दरिद्र के सिर को नहीं सहलाया और यदि इन करों ने समाज और राष्ट्र के हित कुछ दान नहीं दिया तो इनका होना व्यर्थ है। इसी अभ्यास के लिए ही तो हाथ को सीधा रखवाकर यज्ञाग्नि में आहुति दिलाई जाती है। उस समय हाथ को कोहनी से घुमाकर मुख की ओर नहीं लाया जाता।

थाली में परोसा गया भोजन भी तो यज्ञ-हवि है। प्रातःकाल **"इदं न मम"** कहकर कराया गया अभ्यास व्यवहार के लिए था, न कि दिखावे के लिए। ऐ याज्ञिक ! यह क्या कि तेरा हाथ, परोसी गई थाली से अपने मुख की ओर चलने लगा ? हाथ की दो ही तो वृत्तियाँ हैं-एक **'मम'** की और दूसरी **'न मम'** की, एक **आदान** की, दूसरी **दान** की; एक हाथ को कोहनी से घुमाकर अपने मुख की ओर ले-जाने की और दूसरी हाथ को सीधा रखकर दूसरे के मुख की ओर ले-जाने की। अपने मुख की ओर ले-जाना सहज वृत्ति है। इस सहजता का नाम ही तो पशुता है। इन यज्ञों के द्वारा इस पशुता को ही मारना अभीष्ट है। ए यजमान ! अपने हाथ को रोको और कोहनी को सीधा रखकर दूसरे के मुख की ओर ले जाओ। ज़रा देखो तो सही, तुम्हारे द्वार पर कौन-कौन खड़े हैं ! पहले उन्हें खिला लो, पश्चात् स्वयं खाओ। तुम्हें यज्ञशेष के खाने का अधिकार है, यज्ञ-हवि के खाने का नहीं। जिस प्रकार तुम अपनी गोदी के बालक को अपने खाने से पहले खिलाते हो, पीने से पहले पिलाते हो, ओढ़ने से पहले उढ़ाते हो, उसी प्रकार ये भी तो तुम्हारे परिवार के ही सदस्य हैं, इन्हें भी तो अपने खाने से

पहले खिलाओ-पिलाओ ! यजमान ने अपना हाथ थामकर जैसे ही द्वार की ओर देखा तो देखता क्या है कि गौ खड़ी है, कुत्ता खड़ा है, कोढ़ी खड़ा है। सोचने लगा कि क्या ये भी मेरे परिवार के सदस्य हैं? उन्हें देखकर यजमान झुँझला उठा; आँखें तरेरकर बोला कि कौन कहता है कि ये मेरे परिवार के सदस्य हैं? इन्हें अभी बताता हूँ ! यजमान ने डण्डा उठाया और सभी को भगा दिया। इतने में द्वार पर एक ध्वनि गूंज उठी-"मातर्! भिक्षां देहि! हे माँ! भिक्षा दो।" एक गैरिक वस्त्रधारी व्यक्ति खड़ा हुआ 'सदा' लगा रहा था। 'मातर! भिक्षां देहि' फिर दूसरी ध्वनि आई और फिर तीसरी, तीसरी के बाद साधु चलता बना। पुरोहित ने कहा-'यजमान! तुमने देखा नहीं कि तुम्हारे द्वार पर अतिथि आया, उसने सदा लगाई, वह चला भी गया, तुमने ध्यान तक नहीं दिया, तुमने उसे आसन नहीं दिया, अर्घ्य नहीं दिया, सत्कार नहीं किया, उसकी झोली में कुछ नहीं डाला। अरे! वह तो तुम्हारे पुण्यों को अपनी झोली में समेटकर चलता बना। यदि कल्याण चाहते हो तो जाओ, साधु की झोली में कुछ डाल आओ.........इस प्रकार अपने परिवार के सदस्य को तिरस्कृत करना अच्छा नहीं, लौटाना अच्छा नहीं!'

यजमान को पहले ही कुत्ते, कौवे, कोढ़ी आदि को परिवार का सदस्य बताये जाने की झुँझलाहट थी, यह नये सदस्य की और बात कह दी गई। वह बोल उठा-'पुरोहित जी! कृपया आप ऐसे समय पर न आया कीजिये। न जाने मुझे कैसे-कैसे तो खाने का अवसर मिलता है। आप मेरे हाथ को रोक देते हैं कि अन्यों को खिलाकर खाओ।' पुरोहित ने उपदेश को जारी रखते हुए कहा कि 'यजमान! मैंने तुम्हारे हाथ को रोका नहीं, तुम्हारे हाथ को सीधा किया है। जो हाथ कोहनी से मुड़कर तुम्हारे मुख की ओर आ रहा था, उसे दूसरे के मुख की ओर ले-जाने के लिए सीधा किया है। इसी का अभ्यास तो तुम प्रातःकाल अग्निहोत्र में कर रहे थे। उसका अभ्यास ठीक हो

गया है कि नहीं, उसी की परीक्षा तो लेनी थी। आज तुझे परीक्षाभवन में बैठा देख मैं इधर आ निकला और सोचा कि यजमान की जाँच तो करो, और जब जाँच की तो पता चला कि मेरा यजमान अनुत्तीर्ण हो गया है। हे यजमान! यह अच्छा नहीं किया कि तूने अपने बन्धु-बान्धवों को अपने गृह से भूखा लौटा दिया। क्या तू समझता है कि इनसे तेरा कोई रिश्ता नहीं? यदि समझ सकता है तो समझ, हाँ! इनके साथ तेरा रक्त का नहीं, आत्मा का रिश्ता है। जैसी तुझमें आत्मा है वैसी ही कौवे, कीड़ी, कुत्ते, कोढ़ी में है। इनमें आत्मदर्शन करना ही तो आत्मा को उठाना है, आत्मा को महान् बनाना है।' बस, इसी पाठ की आवृत्ति बलिवैश्वदेव, अतिथि और पितृयज्ञों के माध्यम से की गई है।

आत्मा का चरम लक्ष्य यही है कि वह प्राणिमात्र में आत्मवत् बरतने लगे। सहसा कोई भी व्यक्ति कुत्ते, कौवे और कोढ़ी में आत्मवत् बरतने में झिझक अनुभव करता है। उस चरम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए अगले दो यज्ञों का विधान किया गया है। सम्मुख उपस्थित अतिथि को देखकर आत्मवत् नहीं तो मनुष्यवत् तो व्यवहार करो! सामने अपने ही तुल्य मनुष्य को झोली लिये खड़ा देखकर व्यक्ति में संस्कार जागरित हों; किसी और नाते से न सही मनुष्यत्व के नाते से तो देना ही चाहिए। अतिथि के साथ आत्मवत् बरतना अधिक संभव है, अपेक्षाकृत कुत्ते, कोढ़ी और कौवे के। परन्तु यजमान के सामने यह युक्ति भी व्यर्थ सिद्ध हुई। वैदिक मनीषी भी कहाँ चूकने वाले थे! उन्होंने ऐसा प्रबन्ध किया कि यजमान के सामने ऐसा व्यक्ति ला उपस्थित किया कि जो यजमान का रिश्तेदार ही था, जिसे यजमान निषेध न कर सकता था। रिश्ते का आधार रक्त था। स्वयं यजमान के पिता, जिन्होंने कुछ महीने पहले वानप्रस्थ की दीक्षा ली थी, आज पहली बार इस गली में भिक्षा के लिए आ निकले थे। उसका भी विशेष कारण था कि अपने

पीछे अपने पुत्र को इस प्रकार नास्तिक होता देख चिन्ता हुई कि कहीं अपना परिवार नास्तिक न हो जाये। स्वयं पुत्र के उद्धार का उपाय सूझा और इधर आ निकले। मुहल्ले में ध्वनि गूँजते ही सब समझ गये कि अमुक के पिता हैं। पुत्रवधू ने जो झाँककर देखा तो हर्ष का ठिकाना न रहा और अपने पति से कहा कि आज तो पिताजी आये हैं, जाइये उन्हें सम्मान-सहित घर बुला लाइये, मैं भोजन की तैयारी करती हूँ, आज घर में बिठाकर भोजन कराएँगे। सुनते ही पति दौड़ पड़ा और लगा पिता के चरणस्पर्श करने। पिता ने तत्काल अपने पैर पीछे हटाते हुए कहा कि 'सावधान! मेरे पैरों को हाथ न लगाना। मैं नास्तिक से पाँव नहीं छुआता।' पुत्र इस व्यवहार से चकित रह गया और हाथ जोड़कर पूछने लगा कि 'मैं नास्तिक कैसे हो गया? मेरा क्या अपराध है? पिताजी, बताइए तो सही, मैं अपनी भूल को तत्काल सुधार लूँगा।' पिता ने देखा कि यही समय है कि जब इस पर मेरे उपदेश का असर होगा। पिता ने पूछना आरम्भ किया कि 'क्या यह सच है कि तुम अपने घर आये अतिथि को यह कहकर लौटा देते हो कि तुमसे कोई रिश्ता नहीं? सम्भवतः तुमने रिश्ते का आधार रक्त को समझा है। तुम्हें आधार बदलना होगा! आत्मा को आधार बनाना होगा! याद रक्खो, रक्त के रिश्ते से देना छुटपन है और आत्मा के रिश्ते से देना बड़प्पन है। तुम रिश्ते का आधार रक्त को मानते हो, आत्मा को नहीं, इसलिए तुम नास्तिक हो। भला तुम ही बताओ कि मुझे वानप्रस्थ की दीक्षा लिये छः मास से अधिक समय हो गया, मैं भी तो लोगों द्वारा दी गई भिक्षा पर जीवित हूँ! मुझे रक्त के रिश्तेवालों ने नहीं, आत्मा के रिश्तेवालों ने भोजन दिया। अतिथि को मानवता के रिश्ते से देना सीखो! जिस दिन तुम प्राणिमात्र को आत्मा के रिश्ते से खिलाना सीखोगे, उसी दिन हम तेरा भोजन स्वीकार करेंगे।' पुत्र ने पश्चात्ताप के आँसू बहाए तो पिता ने क्षमा किया। बस, रिश्ते का आधार आत्मा

होने तथा नास्तिकता और अरातिभाव का उन्मूलक होने से पञ्चयज्ञ महान् हैं।

७. वैदिक संस्कृति में विद्यास्नातक को द्विज कहते हैं। जैसे ही उसका दूसरा जन्म हुआ कि उस पर तीन ऋण चढ़ गए। सूत्रकारों का कहना है- 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते' अर्थात् जन्मते ही ब्राह्मण तीन ऋणों से युक्त होकर ऋणवान् बनता है। जब तक उन ऋणों से मुक्त न हो ले, तब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं होता। इनसे मुक्त होने के लिए पञ्चयज्ञ भी एक साधन है, जिनके द्वारा त्रिविध ऋणों से मुक्त हुआ जा सकता है। इसलिए हमने पञ्चयज्ञों की महत्ता का सप्तम बिन्दु इसे बनाया है।

हमारी समझ में अतिथि-यज्ञ के द्वारा ऋषि-ऋण से, पितृयज्ञ द्वारा पितृ-ऋण से तथा बलिवैश्वदेव-यज्ञ द्वारा देव-ऋण से मुक्त हुआ जा सकता है। इस प्रकार त्रिविध ऋणों से अनृण होने का साधन होने से ये पाँचों यज्ञ महान् हैं।

८. वैदिक आश्रम-व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति पर स्वामित्व एकमात्र गृहस्थ का है, इतर आश्रमी का नहीं। ऐसा न हो कि सब सम्पत्ति एक आश्रमी के पास सञ्चित हो जाए, अतः इसका सहज विनिमय करने के लिए, जहाँ अन्य विधि-विधान हैं, वहाँ पञ्चयज्ञ भी सहायक हैं। गृहस्थ के आश्रित ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी तीनों ही नहीं, अपितु चींटी से लेकर हाथीपर्यन्त प्राणी हैं। उन सभी के जीवन-निर्वाह का आधार गृहस्थ है। यह गृहस्थ पर दण्ड नहीं, अपितु उसका कर्त्तव्य है। सम्पत्ति बलात् छीनी नहीं जाती, अपितु स्वेच्छा से दी जाती है; जिसे हमने सहज विनिमय का नाम दिया है।

सहज विनिमय इसलिए कि जिससे सामने उपस्थित व्यक्ति को देखकर स्वतः ही अन्तःप्रेरणा होती हो कि अवश्य दो। उसे ज्ञात है कि उसका बेटा और उसका पिता दोनों ही गुरूकुल में निवास करते हैं। जहाँ बेटा अध्ययन कर रहा है, वहाँ पिता

उध्यापन करा रहा है। इस प्रकार से पिता गृहस्थ के दायित्व को पूर्ण कर रहा है; अतःगृहस्थ भी समझता है कि उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना उसका कर्त्तव्य है। संन्यास की दीक्षा लिया हुआ व्यक्ति भी अतिथिरूप में गृहस्थ के घर उपस्थित होता है, तो गृहस्थ की पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं का समाधान करता है, जिसके परिणामस्वरूप गृहस्थ के मन में स्वतः उनका सम्मान तथा सहयोग करने की वृत्ति जागती है। दोनों ओर से अपनी शक्तियों का सहज विनिमय हो जाता है। पितर और अतिथिगण ज्ञान-दान से गृहस्थ का हित साधते और गृहस्थ अन्न-वस्त्र आदि धन-दान से उनकी आजीविका साधते हैं।

इस प्रकार सम्पत्ति के परस्पर सहज विनिमय का साधन होने से पञ्चयज्ञ महान् हैं।

अग्निहोत्र की महत्ता के विशेष बिन्दु

९. पञ्चयज्ञों की महत्ता का नवम बिन्दु है- **'समाज के विराट् रूप का उद्भावक होना'**। वैदिक कर्मकाण्ड की सबसे बड़ी विशेषता है **संघभाव**। वैदिक भक्त ईश-प्रार्थना में अपने-आपको एकाकी न मानकर सबको अपने साथ सम्मानित समझता है। वह जो कुछ भी माँगता है केवल अपने लिए न माँगकर सभी के लिए माँगता है। यही कारण है कि वैदिक प्रार्थनाओं में एकवचन का प्रयोग न होकर बहुवचन का प्रयोग देखने में आता है। तद्यथा-प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में **नः** का प्रयोग 'धियो यो नः प्रचोदयात्' विश्वानि देव' मन्त्र में 'यद् भद्रं तत् नः आसुव', प्रसिद्ध वैदिक राष्ट्रमंत्र में तो **नः** पद की भरमार है-'निकामे निकामे **नः** पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो **नः** ओषधयः पच्यन्ताम्, **नः** कल्पताम्'।

पञ्चयज्ञों में भी **नः** और **वः** पदों का प्रयोग देखा जाता है। अग्निहोत्र से भिन्न चार यज्ञों में व्यक्ति भले ही एकाकी होकर अपने कर्म में प्रवृत्त रहता हो, मानसिक रूप से तो वह भी

अन्यों को अपने साथ सम्मिलित समझता है। उन यज्ञों में न तो अन्य व्यक्ति ही वहाँ उपस्थित होते हैं और न प्रार्थित सामग्री ही अन्यों में बाँटी जाती है। इसके विपरीत अग्निहोत्र में समाज का, संगठन का, विराट्‌रूप उभरकर सामने आता है। उसमें यजमान एकाकी नहीं बैठता, पत्नी भी साथ बैठती है। इतना ही नहीं, **विश्वेदेवाः** भी रहते हैं। मिलकर पाठ करते हैं, मिलकर ही हविप्रदान करते हैं।

अग्निहोत्र की महत्ता का दिग्दर्शन तभी सम्भव है जब उसे संन्यासी को छोड़कर इतराश्रमी अपनाएँ, उसका समय निश्चित हो, विधि निश्चित हो, मंत्र निश्चित हों, पाठ में एकता हो, सामग्री निश्चित हो, अनिवार्य पालन हो। प्रत्येक गृहस्थ के घर से दिग्दिगन्त में सुगन्ध व्याप्त होने पर नवागन्तुक दर्शक के मुख से सहसा निकलेगा कि-'अहो! यह कितना महान् है! अहा! मंत्रध्वनि कितनी आह्लादकारी है! यही तो समाज की एकता का द्योतक है! यही विराट् रूप है! अतः 'समाज के विराट् रूप का उद्भावक' होने से अग्निहोत्र महान् है। इसीलिए कहा-'**एतद् वै यज्ञानां मुखं यदग्निहोत्रम्**'।

१०. पञ्चयज्ञों की महत्ता का दशम बिन्दु है '**आत्माहुति का प्रेरक होना**'। हम आठवें बिन्दु में दिखा चुके हैं। कि व्यक्ति पञ्चयज्ञों के माध्यम से अपनी आत्मा को विकसित करता है। आत्मविकास की कसौटी '**बलिवैश्व**', '**अतिथि**' और '**पितृयज्ञ**' हैं, जिनके द्वारा यजमान रक्त के सम्बन्ध से ऊपर उठकर मानवता के सम्बन्ध को, और मानवता के सम्बन्ध से भी ऊपर उठकर आत्मा के सम्बन्ध को अपनाता है, आत्मवत् बरतना सीखता है। इससे अगला चरण और भी है कि जिनके साथ आत्मवत् बरतता है, उनके लिए समय आने पर क्या आत्माहुति भी दे सकता है? '**आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्**' से भी बढ़कर यह होगा कि '**आत्मार्थे आत्मानं त्यजेत्**'। अग्निहोत्र में यही पाठ पढ़ाया जाता है। समिधा को अभिनयार्थ यजमान अपने

हाथों में लिये होता है। वास्तविक समिधा तो आत्मा है। इसीलिए कहता है **'अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्'**-यजमान जातवेदस् अग्नि के प्रति अपनी आत्मा को समिधा बनाने में हर्ष अनुभव करता है। जातवेदस् अग्नि जहाँ परमात्मा का वाचक है, वहाँ आत्मा का भी वाचक है। जातमात्र में जिसे लाभ किया जा सकता है, ढूँढा जा सकता है-**'सर्व भूतेषु चात्मानम्'**-सब प्राणिमात्र में आत्मा का दर्शन, जातवेद अग्नि को ढूँढ निकालना है तो अब उसके लिए आत्मा को समिधा बनाओ। अग्निहोत्र में इसी का अभ्यास कराया जाने से अग्निहोत्र आत्माहुति का प्रेरक होने से महायज्ञ है। इसीलिए कहा कि-**'एतद्वै यज्ञानां मुखं यद् अग्निहोत्रम्'**।

११. यज्ञों की महत्ता का ग्यारहवाँ बिन्दु है यजमान अग्निहोत्र के माध्यम से ऐसी आहुति डालना सीख जाये, जो संख्या में एक हो, पूर्ण हो, अनन्त यज्ञकुण्डों में डाली जाकर भी समाप्त न हो और साथ ही यज्ञाग्नियाँ तृप्त हों। उसी का नाम है 'सत्याहुति'। द्रव्याहुति और सत्याहुति में यही महद् अन्तर है कि द्रव्याहुति एक ही कुण्ड में अनन्त डाली जाती हैं, तो भी यज्ञाग्नि की तृप्ति नहीं होती, अन्ततः द्रव्याहुति समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत सत्याहुति एक होती है, अनन्त कुण्डों में डाली जाकर भी कभी समाप्त नहीं होती; अनन्त श्रद्धाग्नियों की तृप्ति के लिए एक ही पर्याप्त है, फिर भी उसमें न्यूनता नहीं आती। इसीलिए भगवान् व्यास ने कहा-

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ महा० १६९।२२

इस प्राक्कथन में पञ्चयज्ञों की महत्ता दिखाकर अन्तिम तीन बिन्दुओं में अग्निहोत्र की महत्ता दिखाई है जो कि पुस्तक का विषय है।

अग्निहोत्र सर्वस्व

यज्ञ और क्रतु

वैदिक संस्कृति को यदि एक शब्द में संहृत करना हो, तो वह शब्द है-होत्र-अग्निहोत्र। इसी अग्निहोत्र के लिए दो पर्यायवाची और भी हैं-यज्ञ तथा क्रतु।

जीवात्मा के लिए सम्भवतः जीवन का रहस्य खोलते हुए, वेद भगवान् का यही आदेश है कि **'क्रतुर्भव'**-"तू 'क्रतुमय' बन जा! 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' की, अनवरत कर्मरति की दिशा ग्रहण करते हुए जीवन को एक अखण्ड सत्र का रूप दे दे।"

मानव-जीवन की सार्थकता उसकी यज्ञमयता में है। बस, जीवन के प्रति एकबारगी यज्ञियता की इस दृष्टि को अपना लेने में है।

यह पृथिवी कर्मभूमि है। हमारी लीला का सूत्रधार कोई विश्वकर्मा है। लीलाधर की लीला में हमारी स्थिति बस निमित्त बन चुके, क्रतु बन चुके, कुछ मोहरों की है। तो आइए, हम सवितादेव के हाथ का मोहरा बनें और श्रेष्ठतम कर्म में जुट जायें।

निज नाम

प्रायः सुनता हूँ कि उसका सर्वोत्तम नाम ओम् है, निज-नाम ओम् है। ज्ञानियों से सुना, विप्रों से जाना, आचार्यों से पढ़ा-**'तस्य वाचकः प्रणवः'** (यो० १.२७) उसका वाचक प्रणव है, ओम् है।

फिर सोचता हूँ, यदि उसका सर्वोत्तम नाम, निज नाम ओम् है, तो मेरा निज नाम क्या है?-मेरा भी तो कोई निज् नाम होना चाहिए। बस, इसी विचार से खोज आरम्भ की। परिणामतः

अपना नाम ढूँढ ही निकाला। आश्चर्य तो उस समय हुआ, जब यह ज्ञात हुआ कि मेरा नाम भी वहीं लिखा था, जहाँ उसका नाम उल्लिखित था, सर्वथा उसी के समीप, उसी की आड़ में! लो, 'तिनके की ओट पहाड़' वाली उक्ति चरितार्थ हुई ना! अनेक बार पढ़ा भी, सुना भी-**'ओ३म् क्रतोस्मर'**[१] ए क्रतो। ओम् का स्मरण कर, किन्तु........

क्रतु से यज्ञपर्यन्त

अहा! ऋतु कितना प्यारा नाम है! कितना स्वाभाविक नाम है! मैं भूला हुआ था। यह कैसी विचित्र स्थिति थी! अपना नाम भी न जानता था। लो, अब नामकरण हो गया। मुझे बुलाना हो तो क्रतु कहकर बुलाना। यदि उसे ओम् नाम से स्मरण करना तो मुझे क्रतु नाम से सम्बोधित करना-**अहं क्रतुः**[२]-मैं क्रतु हूँ, कर्मशील, कर्म करना मेरा स्वभाव है। बस, अब तो केवल अपने नाम को सार्थक करने की साधा बाकी है। कर्मभूमि पर मेरा अवतरण इसलिए हुआ है कि कर्ममय जीवन व्यतीत करूँ। मेरे पिता ने जो मेरे लिए साधन जुटाते हैं, उनका नाम भी कर है, जो कहते हैं कर, कर। अतः मेरा नाम **क्रतु** है। क्षेत्र का नाम **कुरुक्षेत्र** वा कर्मभूमि[३]। साधन का नाम **कर**। अहा, क्या संगति है, क्या संगीत हैं !

शतक्रतु

मैंने जब से वेद का यह आदेश पढ़ा है कि **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'**[४] इस कर्मभूमि पर कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा कर, तब से निश्चय कर लिया है कि एक क्षण भी कर्मशून्य होकर न जीऊँगा। कर्मशून्य जीवन मेरे लिए अभिशाप है, चाहे वह एक सहस्त्र वर्ष का ही क्यों न हो। कर्म करना मेरा धर्म है। मैं **'क्रतु'** हूँ और फिर कर्म का वह

---

१. यजुर्वेद ४०.१५ २. गीता ९.१६

३. कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता। महा० वन० २४७-३५

४. यजु० ४०.२

प्रवाह-एक-दो दिन नहीं, दो-चार वर्ष नहीं, दस-बीस वर्ष भी नहीं, पूरे **'शतं समाः'** शत वर्ष पर्यन्त चालू रखना है। वेद भगवान् के इस आदेश को समझकर ही मैंने दो अक्षरों वाले **'क्रतु'** नाम से पहले दो अक्षरों वाला **'शत'** पद और जोड़ लिया है। इस प्रकार मैंने अपना नाम **'क्रतु'** से **शतक्रतु** कर लिया है।

श-क्र

जहाँ क्रतु पद से मुझे स्मरण रहता है कि यहाँ **कर्म ही कर्म करने हैं**, वहाँ 'शत' पद से यह स्मरण रहता है कि पूरे **सौ वर्ष पर्यन्त** करने हैं। कुछ कहते हैं कि दो अक्षरों वाला नाम ही अच्छा था यतः वह संक्षिप्त था, बोलने में सरल था। मैंने उनकी सुविधा के लिए यह उपाय निकाला है कि वे चार अक्षरों वाले **'शत-क्रतु'** नाम को ही संक्षिप्त कर लें। नाम के दोनों पदों से प्रथम-प्रथम अक्षर लेकर दो अक्षरों का संक्षिप्त नाम **'शक्र'** रख लें, अर्थात् **'शत'** से **'श'** और **'क्रतु'** से **'क्र'** लेकर मुझे **'शक्र'** नाम से पुकारें; मेरा काम सध जायेगा, उन्हें नाम सध जायेगा। नाम वही अच्छा जो काम की सूचना दे। बस, मुझे क्रतु कहना, शतक्रतु कहना, अथवा शक्र कहना। मुझे तो यही नाम प्यारा है, पिता ने मुझे इसी नाम से दुलारा है-**क्रतो! ओम् स्मर! क्लिबे स्मर। कृतं स्मर**[१]।

अहं क्रतुरहं यज्ञः[२]

जब से मुझे अपने निज नाम का बोध हुआ है, तब से इसे सार्थक करने की चाह है। इसी चाह ने नई जिज्ञासा का रूप धारण कर लिया कि नाम को सार्थक करने के लिए काम करूँ तो क्या करूँ? पता चला है कि दयालु पिता ने स्वयं ही इसका समाधान कर दिया, नाम का पता दिया है तो साथ ही काम का पता भी दिया है। यजुर्वेद के प्रथम मंत्र में ही सविता देव से

१. यजु० ४०.१५
२. गीता ९.१६

श्रेष्ठतम कर्म करने की प्रेरणा माँगी गयी है।[1]

श्रेष्ठतम कर्म

मेरा कोई भी क्षण ऐसा न होना चाहिए कि मेरा अस्तित्व तो हो, लेकिन कर्म न हो, चेष्टा न हो। केवल कुछ-न-कुछ चेष्टा करना ही उद्देश्य नहीं, अतः मैंने निश्चय किया है कि अपने नाम को सार्थक करने के लिए अब मैं श्रेष्ठतमकर्म ही करूँगा, अतिशय श्रेष्ठकर्म। सोचता हूँ कि अतिशय श्रेष्ठ कर्म किसको समझूँ जिससे कि कर्म करने में उलझन न हो, निःसंकोच करता चला जाऊँ, क्योंकि जिसे मैं श्रेष्ठतम मानता हूँ, दूसरा उसे ही निषिद्ध कर्म कहने लगता है; जिसे मैं निषिद्ध कर्म मानता हूँ, अन्य कोई व्यक्ति उसे विहित कर्म बताता है; और कुछ तो **गहना कर्मणो गति**[2] कहकर छुटकारा पा लेते हैं, परन्तु मैं क्या करूँ? मेरा तो किसी प्रकार छुटकारा नहीं। मैंने सुना है कि याज्ञवल्क्य ने श्रेष्ठतम कर्म की व्याख्या कर दी है, उन्होंने कहा है **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**[3] यज्ञ ही अतिशय श्रेष्ठकर्म है। लो, क्या ही अच्छा हुआ कि मुझे **'क्रतु'** का एक और पर्याय मिल गया-**'यज्ञ'**। अहा! अहा! तो मैं भी श्री कृष्ण के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकता हूँ-**अहं क्रतुरहं यज्ञः।**

चाहे क्रतु कहो या यज्ञ कहो, बात एक ही है-**क्रतुमयोऽयं पुरुषः यज्ञमयोऽयं पुरुषः**[4]-मनुष्य क्रतुमय है, यज्ञमय है, क्रतुमय होने का अर्थ है यज्ञमय होना। कर्म कैसा? श्रेष्ठतम कर्म! श्रेष्ठतम कर्म क्या? **यज्ञ**। यह समाधान होते ही जिज्ञासा ने नया मोड़ लिया और प्रश्न उठा कि फिर यज्ञ क्या है?

यज्ञ का मौलिक अर्थ

यज्ञ का क्या अर्थ है? इसे जानने के लिए कुछ क्षण के

१. यजु० १.१
२. गीता ४.१७
३. शत० १.७.१.५; तै० ३.२.१.४
४. शत० १.३.२.१; ३.५.३.१

लिए शब्द-शास्त्र के प्रणेता भगवान् पाणिनि मुनि के चरणों में बैठना होगा। पाणिनि मुनि ने प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगाया है, उसके प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया है, मुनि के अनुसार **'यज्ञ'** शब्द यज् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसके तीन अर्थ हैं-**देवपूजा, संगतिकरण** और **दान**[१]। यज् धातु के तीन अर्थ ही यज के मौलिक तत्त्व है।

तीन कसौटियाँ

किसी भी कर्म के यज्ञमय होने की प्रथम कसौटी यह है कि वह पूजात्मक हो; दूसरी कसौटी यह है कि वह संगतिकरणात्मक हो; तीसरी कसौटी यह है कि वह दानात्मक हो; अर्थात् किसी भी कर्म को इस तत्त्वत्रयरूप कसौटी पर कसकर देखा जा सकता है कि वह यज्ञ है अथवा नहीं। इस तत्त्वत्रयरूप कसौटी पर खरा उतरा हुआ 'कर्म' श्रेष्ठतम कहलायेगा, तथा श्रेष्ठतम कर्म ही 'यज्ञ' कहलाएगा। अतः कहा-**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**[२]।

यज्ञ के तत्त्वत्रय परस्पर आबद्ध हैं

यज्ञ के ये तत्त्वत्रय परस्पर इतने आबद्ध हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, न इनमें से एक तत्त्व दूसरे को छोड़कर ही अपना अर्थ दे सकता है।

देव-पूजा, संगतिकरण और **दान** इन तत्त्वत्रय में से **प्रथम** तत्त्व 'देवपूजा' है, जिसका सीधा अर्थ है देव की पूजा। निस्सन्देह पूजा-कर्म यज्ञ है, परन्तु पूजा से पहले यह जानना आवश्यक है कि पूजा किसकी हो? पूजा उसकी कि जो देव हो। पूजा के पात्र व्यक्ति का देव होना आवश्यक है। उस पात्र व्यक्ति को देव बनने के लिए जिस तत्त्व की आवश्यकता है वह तत्त्व है **दान**। निरुक्त के अनुसार **देवो दानात्**[३] अर्थात् प्रथम तत्त्व **'देवपूजा'** को तृतीय तत्त्व **'दान'** का आश्रय

---

१. धातुपाठ-भ्वादिगण

२. शत० १.७.१.५

३. निरुक्त अ० ७, पाद ४, खण्ड १६

आवश्यक है। इस प्रकार प्रथम तत्त्व तृतीय तत्त्व से आबद्ध है। देव-पूजा दान से आबद्ध है। यज् धातु का पहला अर्थ देवूपजा, यज् धातु का तृतीय अर्थ दान के आश्रित है।

पूजा

न केवल देवत्व ही दान पर आश्रित है, अपितु याजक की पूजा भी दान पर आश्रित है। याजक को भी देव के प्रति दातव्य (सामग्री) का त्याग करना ही होगा। इसी त्याग या समर्पण का नाम दान है। अतः जहाँ देव का देवत्व **दान** पर अवलम्बित है, वहाँ याजक की पूजा भी **दान** पर अवलम्बित है। देव का देवत्व, याजक की पूजा-दोनों ही दान पर आश्रित हैं।

देव और याजक में अन्तर

यदि देव का देवत्व और याजक की पूजा, दोनों ही दान पर आश्रित हैं, तो दोनों में अन्तर क्यों? एक देव क्यों और दूसरा याजक क्यों? एक पूज्य क्यों और दूसरा पूजक क्यों? यह क्यों कि एक पूजा पाये और दूसरा पूजा करे?

इसका समाधान अति स्पष्ट है। दोनों के दान में अन्तर है, एक का लेना देने के लिए है तथा दूसरे का देना लेने के लिए है। यही अन्तर एक को पूज्य और दूसरे को याजक बनाए हुए है। याजक का देना लेने के लिए है, जबकि देव का लेना देने के लिए है। एक का दान आदान के लिए है, दूसरे का आदान दान के लिए है- **आदानं हि विसर्गाय।** जहाँ देकर लेने की भावना याजक को देव बनने से रोकती है, वहाँ लेकर देने की भावना देव को पूज्य पद पर प्रतिष्ठित करती है। इसी दानादान के माध्यम का ही नाम **हवि** है। हवि वह पदार्थ है जिसे 'दिया जाता है, लेने के लिए' तथा जिसे 'लिया जाता है, देने के लिए'। इसी हवि पर हवन अवलम्बित है। यजमान हवि देता है लेने के लिए, जबकि देव हवि लेता है देने के लिए। वस्तुतः यजमान को यही सीखना है कि उसका दान आदान के लिए न हो। यजमान की नित्य यज्ञप्रक्रिया इसी भावना को परिपक्व

करने के लिए है। इस भावना के परिपक्व होने पर उसे नित्य यज्ञ की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार देव और याजक का, पूज्य और पूजक का अन्तर स्पष्ट हुआ।

संगतिकरण

जहाँ देव-पूजा दानादान पर आश्रित है, वहाँ दानादान संगतिकरण पर, अर्थात् प्रथम तत्त्व तृतीय तत्त्व पर, तथा तृतीय तत्त्व द्वितीय तत्त्व पर आश्रित है। तात्पर्य यह है कि तीनों तत्त्व परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं।

यज्ञ के **'देवपूजा'** और **'दान'** तत्त्व व्यर्थ हो जाये यदि **'संगतिकरण'** न हो; बिना संगतिकरण के दानादान, लेना-देना असम्भव है। देव का आदान याजक तक न पहुँचे और याजक का दान (पूजा-सामाग्री) देव तक न पहुँचे, यदि उनमें परस्पर संगतिकरण न हो। संगतिकरण का ही परिणाम है कि पूज्य-पूजक में परस्पर दानादान होता है, और दानादान का ही परिणाम है कि देव-पूजा हो रही है। अतः सिद्ध हुआ कि संगतिकरण वह तत्त्व है, जिससे देव-पूजा और दान आबद्ध हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि यज्ञ का 'देव-पूजा' **महत्** तत्त्व है, 'दान' **महत्तर** तत्त्व है, तथा 'संगतिकरण' **महत्तम** तत्त्व है।

इस सारे विवेचन को संहिता में इस प्रकार कहा जा सकता है **'देवः पूर्वरूपम्। पूजनम् उत्तररूपम्। दानं सन्धिः। सङ्गतिकरणं सन्धानम्। इत्यधियज्ञम्**

सर्वः खल्वयं यज्ञः

उपर्युक्त तत्त्वत्रयरूप कसौटी को किसी भी कक्षा तथा क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। इसके लागू होते ही प्रत्येक कर्म की यज्ञरूपता स्पष्ट हो जायेगी। अब **गहना कर्मणो गतिः** कहकर टालने की आवश्यकता नहीं। यदि कोई कर्म पूजात्मक है, तो वह यज्ञ है। यदि कोई कर्म संगतिकरणात्मक है, तो वह भी यज्ञ है। यदि कोई कर्म दानात्मक है, तो वह भी यज्ञसंज्ञक होगा।

इन तीनों तत्त्वों का सामञ्जस्य व्यक्ति में दृष्टिगोचर होने पर व्यक्ति भी यज्ञरूप होगा। परिवार में दृष्टिगोचर होने पर परिवार यज्ञरूप कहलायेगा। समाज में दृष्टिगोचर होने पर समाज यज्ञरूप होगा। राष्ट्र में दृष्टिगोचर होने पर राष्ट्र यज्ञरूप होगा। ब्रह्माण्ड को यज्ञ इसलिए कहते हैं कि उसकी हर क्रिया-प्रक्रिया में तीनों तत्त्वों का सामञ्जस्य है।

आइये; इन तीनों तत्त्वों का भिन्न-भिन्न कक्षाओं में प्रत्यक्ष करें।

पुरुषो वाव यज्ञः

यदि देखा जाए तो ये तीनों तत्त्व मनुष्य-पिण्ड में भी व्याप्त हैं। इसमें देव-पूजा, संगतिकरण और दान चल रहा है। देह की हर छोटी शक्ति अपने से बड़ी शक्ति की पूजा में लगी हुई है। सभी इन्द्रियाँ अपने राजा इन्द्र (आत्मा अथवा मन) के सत्कार में लगी हुई हैं, और सतत अपनी भेंट (ज्ञान-हवि) लाकर मस्तिष्क (शिरो देवकोषः[१]) में डालती जा रही हैं। यह इनकी ओर से यज्ञ के देव-पूजा नामक तत्त्व के 'पूजा'-भाग की पूर्ति हो रही है और इधर आत्मदेव भी इन्द्रियगण को अपना चैतन्य प्रदान कर, यज्ञ के देव-पूजा नामक तत्त्व के 'देव'-भाग की पूर्ति कर रहे हैं, अर्थात् देवत्व का लाभ कर पूजा के पात्र बन रहे हैं। इन्हीं के चैतनय-दान का परिणाम है कि इन्द्रियगण रूप, रस, गन्धादि विषय हवि की भेंट चढ़ा रहे हैं। आत्मा और इन्द्रियगण में परस्पर दानादान चल रहा है। यह दानादान संगतिकरण पर आश्रित है। देखिये जैसे ही मनुष्य के सामने भोजन का थाल आया कि सर्वप्रथम आँखों ने निरीक्षण करके मस्तिष्क को सूचित किया कि ग्राह्य है, ले लो! तत्काल हाथों को आदेश हुआ कि ग्रास उठाओ! हाथ ग्रास लेने व तोड़ने लगा ही था कि सहसा स्पर्शेन्द्रिय ने कहा-रुको! गरम है, ठंडा होने दो, अन्यथा मुँह जल जायेगा। ठण्डा होने पर हाथ ग्रास को मुख

---

१. अथर्वशिर उपनिषद्-६

के पास ले ही गया था कि नासिका ने कहा कि रुको! कुछ दुर्गन्ध आ रही है-ऐसा ज्ञात होता है कि बासी भोजन ही गरम करके परोस दिया गया है। बस, हाथ वहीं-का-वहीं रुक गया। यदि सावधानी न बरती जाती, और ग्रास मुँह में चला जाता तो प्रथमतः उसका निगलना ही कठिन होता, कदाचित् निगल भी लिया जाता तो उगलना पड़ता और पिछला खाया हुआ भी वह उगलवा लेता। यह सब परस्पर सहयोग अथवा संगतिकरण के आश्रित चल रहा है। इसी सहयोग अथवा संगतिकरण का नाम **यज्ञ** है।

मुख को दिया गया ग्रास उसका सत्कार है, उसकी पूजा है। पूजा इसलिए कि वह देव है। देव इसलिए कि लेता है देने के लिए। जो कुछ इसे दिया जाता है, उसे अपने पास न रखकर पेट को दे देता है; ज्यूँ-का-त्यूँ नहीं देता, अपितु अपनी ओर से 'अपना भाग' मिलाकर उसे दाँतों की चक्की में पीसकर पेट के अर्पित कर देता है। यदि यह काम मुख के द्वारा न हो, तो पेट खाये हुए को पचा न सके। इस मुख्यता के कारण इसे मुख कहते हैं। ली हुई वस्तु को तत्काल पूर्णतया लौटा देता है, किञ्चिन्मात्र भी न चुराता है, न संग्रह करता है। इसे तो इस चोरी में, जमाखोरी में दुर्गन्ध आती है। सम्भवतः इसीलिए भोजनोपरान्त कुल्ला करके भोजन का कण-कण और अणु-अणु निकाल बाहर कर देता है। इन्हीं गुणों से वह देव है, पूजार्ह है पूजा पा रहा है।

जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ अपने राजा आत्मा (यजमान) की पूजा में लगी रहती हैं। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी, ज्ञानेन्द्रियों को देव मानकर इनके सत्कार में लगी रहती हैं। अन्ततोगत्वा यह पूजा है आत्म-देव की ही, इन्द्रदेव की ही।

आँखों ने गुलाब की लाली, नासिका ने गुलाब की गन्ध, त्वचा ने गुलाब का स्पर्श लेना चाहा तो तत्काल पाँव उद्यान की ओर बढ़ चले। यह गति-दान द्वारा देव का सत्कार है। हाथों ने

फूल तोड़कर नासिका को समर्पित कर दिया जिससे मन और मस्तिष्क तृप्त हो उठे। तत्काल वाणी ने स्तुतिगान आरम्भ कर दिया-अहा, क्या भीनी गन्ध है! यह सब देव-पूजा ही है। इस प्रकार हर देव अपने पूजक से सत्कार पा रहा है, पूजा पा रहा है और प्रत्येक देव उसे उपयोगी बनाकर उसमें अपना भाग मिलाकर लौटा रहा है। यह सत्कार पाना और सत्कार करना, परस्पर दानादान पर अवलम्बित हैं और यह दानादान संगतिकरण पर। इन तीनों तत्त्वों को व्यक्ति-पिण्ड में प्रत्यक्ष करके ही भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा-**'पुरुषो वाव यज्ञः'**[१]।

आश्रम-व्यवस्था और यज्ञ

यज्ञ के तत्त्वत्रय को जहाँ व्यक्ति में देखा जा सकता है, वहाँ उसको सम्पूर्ण आयुष्य में भी देखा जा सकता है। सम्पूर्ण आयु के चार विभागों में यज्ञ के तत्त्वत्रय किस प्रकार ओत-प्रोत हैं, यह द्रष्टव्य है। प्रथमाश्रमी ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह देवों की पूजा करे। इसलिए उसे कहा जाता है-**मातृ-देवो भव! पितृ-देवो भव! आचार्य-देवो भव! अतिथि-देवो भव।**[२] अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देव मान और उनकी पूजा कर! इस प्रकार व्यक्ति ब्रह्मचर्य-आश्रम में यज्ञ के प्रथम **देव-पूजा** नामक तत्त्व के **'पूजा'**-भाग की पूर्ति कर रहा है और पूजार्ह देव की पहचान कर रहा है। व्यक्ति द्वितीयाश्रम गृहस्थ में संगतिकरण का पालन करता है। इसलिए अब एकाकी न रहकर अपना सहयोगी वरण कर लेता है और परस्पर संगतिकरण का अभ्यास करता है। परिवार के दायित्व को समझते हुए बड़े-छोटे में, गरम-नरम में संगति स्थापित करता है। फिर देवत्व का लाभ करने के लिए वानप्रस्थ में सर्वमेध-यज्ञ कर पूजा का पात्र बनता है। स्वयं पितर, आचार्य और अतिथि बन जाता है; अन्ततः तीनों तत्त्वों को साधित कर **संन्यासी** हो

१. छान्दोग्योपनिषत् ३.१६.१; पुरुषो वै यज्ञः (शत० १।३।२१)
२. तैत्तिरीयोपनिषत् १.११.२

जाता है। अब उसका **उद्‌घोष** होता है-**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।'**[१]

स्वयं मूर्तिमान् यज्ञ, द्रव्य-यज्ञ से मुक्त, चलती-फिरती आग, चलता-फिरता याग, सर्वत्रगामी, सर्वगम्य, जहाँ पहुँचे वहीं के लोग इस मूर्तयज्ञ में आहुति देने को उद्यत-**वसुधैव कुटुम्बकम्।**

वर्णव्यवस्था और यज्ञ

इसी **देव-पूजा, संगतिकरण** एवं **दानात्मक** तत्त्वत्रय के सूत्र को वैदिक समाज-व्यवस्था पर भी लागू किया जा सकता है। समाज में ब्राह्मण मुख्य है; क्योंकि वह देव है-**'विद्वांसो हि देवाः।'**[२] विद्वज्जन अपने ज्ञान-प्रवाह को मनुष्यमात्र के लिए सर्वथा निष्काम भाव से देते हैं और **पूजा का पात्र** बनते हैं।

जन-सामान्य को 'विशः' कहा जाता है, वे ही वैश्य हैं। इनका स्थान द्विजों में अन्तिम है और इधर यज्ञ के तत्त्वत्रय में दान का स्थान भी अन्तिम है; अतः वैश्य दान के द्वारा देवों की पूजा कर श्रेष्ठतम कर्म का भागी बनता है।

अब रहा यज्ञ का मध्य तत्त्व **'संगतिकरण'**। इसकी मुख्यता समाज के मध्य-द्विज क्षत्रिय में पाई जाती है। क्षत्रिय का धर्म है कि वह वैश्य से कर ग्रहण करे और ब्राह्मण तक पहुँचा दे। वह जहाँ यह देखे कि-राष्ट्र का ब्राह्मण निष्काम भाव से सर्वसामान्य को ज्ञान-दान करके पूजार्ह बन है या नहीं, वहाँ वह यह भी देखे कि-वैश्य पूजार्ह ब्राह्मण की पूजा कर रहा है या नहीं। यदि नहीं तो दोनों वर्णों में सामञ्जस्य पैदा करे-संगतिकरण पैदा करे। यही इसका धर्म है।[३] वस्तुतः यज्ञ के तत्त्वत्रय ही द्विजों के कर्तव्यत्रय में ओतप्रोत हैं। सम्भवतः इसीलिए यज्ञ द्विजों के लिए

---

१. गीता ३.२२

२. शतपथ ब्रा० ३।७।३।१०

३. ब्रह्म पूर्वरूपम्। विडुत्तररूपम्। क्षत्रः सन्धि। समाजः संधानम्। इत्यधिवर्णम्।
-लेखक

ही विहित है, शूद्र के लिए नहीं। शूद्र ने यज्ञ के देव-पूजा, संगतिकरण, दान नामक तत्त्वत्रय में से एक का भी वरण नहीं किया। जिस दिन वह द्विजों के कर्तव्यत्रय में से एक का भी वरण कर लेगा। उस दिन वह शूद्र ही न रहेगा, उसे यज्ञ का पूर्ण अधिकार होगा। आश्रमियों में जहाँ तत्त्वत्रय को अपने जीवन में उतारकर मूर्त यज्ञमय होने से संन्यासी कर्मकाण्ड से मुक्त है, वहाँ वर्णियों में द्विजों के कर्तव्यत्रय में से एक का भी वरण न करने के कारण शूद्र भी कर्म-काण्ड से मुक्त है। दोनों व्रात्य हैं-एक व्रतमय होने से, दूसरा व्रत-हीन होने से।

उपर्युक्त विवेचन मे-सर्वप्रथम जीव के निज नाम की मीमांसा, निजनाम-मीमांसा से कर्म-मीमांसा, कर्ममीमांसा से यज्ञमीमांसा, यज्ञमीमांसा से यज्ञ के तत्त्वत्रय की मीमांसा और अब तत्त्वत्रय की मीमांसा के लिए अग्निहोत्र की मीमांसा आवश्यक है, क्योंकि अग्निहोत्र एक ऐसी पद्धति है जिसमें देवपूजा, संगतिकरण और दान का प्रत्यक्ष किया जा सकता हैं।

अखण्ड सत्र

यजमान (व्यक्ति) यज्ञ के इन मौलिक तत्त्वों का नित्य प्रत्यक्ष करे। इन्हें अपनाकर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सामञ्जस्य पैदा करे। इसीलिए उसके नित्य अभ्यास की आवश्यकता है। इस नित्य अभ्यास को याज्ञिकों ने **अग्निहोत्र** नाम दिया है। शतपथकार ने तो इसे जरामर्य-सत्र कहा है-**"एतद्वै जरामर्यसत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान् मुच्यते मृत्युना वा।"**[१] यह अग्निहोत्र ही जरामर्य-सत्र है। इससे छुटकारा बुढ़ापा आने पर मिलता है अथवा मृत्यु होने पर। वृद्धावस्था में जब व्यक्ति अपनी आत्मा में अग्नि को समारोपित करके संन्यास ग्रहण कर लेता है, अथवा मृत्यु होने पर जबकि व्यक्ति के अवशेष देह (शव) को अग्नि में समारोपित किया जाता है, तब अग्निहोत्र से छुटकारा मिलता है। एक ने आत्मा में अग्नि को समारोपित

१. शतपथ १२।४।१।१

किया तो दूसरे के देह को अग्नि में समारोपित किया गया। एक स्वेच्छा से आत्मा में अग्नि को समारोपित करता है, दूसरे के शव को विवशतः अग्नि में समारोपित किया जाता है। एक जीवित ही अग्निमय बनता है और दूसरा मृत्यु के उपरान्त (मरणोपरान्त)। अग्नि वही है जिसे उन्होंने अपने यज्ञकुण्ड में स्वयं आधान किया था। एक अग्नि को आत्मा में आरोपित करके जीवन-मुक्त हो गया और दूसरा मरकर अपने देह को अग्नि के लिए छोड़ गया तथा मरणोपरान्त मुक्त हुआ। इसीलिये कहा **"जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा"** अन्यथा इससे छुटकारा नहीं। इतने बड़े और कड़े प्रतिबन्ध का कारण एकमात्र यही है कि व्यक्ति उन यज्ञिय तत्त्वों को जान ले, जिनका उपयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया जाना है। तभी सर्वत्र सामञ्जस्य अथवा संगतिकरण बिठा सकेगा।

अग्निहोत्र की मुख्यता

ऊपर लिख चुके हैं कि मनुष्य को यज्ञ के तत्त्वत्रय का बोध हो जाये और वह अपने को इस तत्त्वत्रय के साँचे में ढाल सके, इसके नित्य अभ्यास का नाम अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र का संयोजन इस प्रकार किया गया है जिससे व्यक्ति इन तीनों तत्त्वों का प्रत्यक्ष करता रहे। यजमान देखता है कि अग्नि देव-पद पर प्रतिष्ठित है, आज्य दान-पद पर और समिधा संगतिकरण-पद पर। अग्निदेव, अग्निहोत्र में दिये गए को सहस्त्र गुणित करके पुनः लौटा रहा है। वह यह भी देखता है कि अग्निदेव न केवल अपने प्रति दी गई हवि को ही लौटा रहा है, अपितु प्रतिदान में प्रकाश और ताप भी लोक-जीवन को दे रहा है। हवि-भाग के खोटे-खरे की छँटनी कर, खोटे को भस्म और खरे को चमका रहा हे, तथा जो लिया है उसे अब दिये जा रहा है। दूसरी ओर यजमान हविरूप में दिये गये को पुनः ग्रहण कर रहा है। यजमान प्रत्यक्ष देखता है कि यहाँ अग्नि और आज्य में संगतिकरण का माध्यम समिधा बनी हुई है। अग्निहोत्र वह मुख्य द्वार है

जिससे यज्ञ-भवन में प्रवेश किया जा सकता है। अग्नि, समिधा और आज्य के माध्यम से नित्य अभिनय होते देख व्यक्ति प्रतिदिन आवृत्ति कर रहा है, अभ्यास कर रहा है, अपने को मूर्तयज्ञ बनाने में लगा हुआ हैं

समिधा और संगतिकरण में 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग तथा तत्त्वत्रय प्रयोग

यजमान ने प्रत्यक्ष कर लिया कि अग्नि 'देव' का प्रतीक है आज्य 'दान' का और समिधा 'संगतिकरण' का। समिधा और संगतिकरण में प्रयुक्त 'सम्' उपसर्ग भी इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि समिधा वह साधन है जो अग्नि और आज्य में एकीभाव, एकीकरण, संगतिकरण उत्पन्न करता है। समिधा वह माध्यम है, जिसके द्वारा यजमान अपनी हवि अग्निदेव तक पहुँचाता है। समिधा वह माध्यम है, जिसके द्वारा अग्निदेव ली हुई हवि को यजमान तक पुनः लौटाता है। समिधा वह सेतु है, जिसके माध्यम से अग्नि और आज्य की एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सम्भव होती है। समिधा वह स्थल है, जहाँ अग्नि और आज्य का पाणिग्रहण होता है। यह हुई समिधा और संगतिकरण शब्द में प्रयुक्त 'सम्' उपसर्ग की महिमा।

समिधा और घृत की दीप्ति [(इन्धि दीप्तौ) और (घृ क्षरणदीप्त्योः)] अग्नि के संगतिकरण से प्रकट हो उठती है और अग्नि की दीप्ति तथा वृद्धि समिधा और घृत के आश्रय से है- **'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयत'।**

हव्या जुहोतन

हवि शब्द 'हू' धातु से बना है, जिसके दान, आदान और अदन तीन अर्थ हैं। दान का अर्थ है-देना, आदान का अर्थ है-लेना, अदन का अर्थ है-खाना। तात्पर्य यह हुआ कि हवि वह वस्तु है जो दी जाती है, ली जाती है और खाई जाती है। हवि दी जाती है, लेने (आदान) के लिए; हवि ली जाती है देने (दान) के लिए। यह लेना-देना, आदान और दान खाने

(अदन) पर अवलम्बित है। देनेवाले को यह पूर्व-विदित है कि मुझे न केवल वही-कुछ ज्यों-का-त्यों पुनः मिलेगा जो उसने अर्पित किया है, अपितु सहस्त्रगुणित होकर वापस मिलेगा। हवि का सहस्रगुणित होकर (प्रत्यादान) लौटाना तभी सम्भव है, जब हवि का अदन (खाना) हो। बिना अदन हुए हवि सहस्रगुणित नहीं हो सकती। सहस्रगुणित हुए बिना लेकर देना अथवा देकर लेना व्यर्थ है, अतः 'हू' धातु के तीनों अर्थों में मध्यगत अदन अर्थ वह माध्यम है, जिससे दानादान की प्रक्रिया पूर्ण होती हो। दान, अदन और आदान, अर्थत्रय ही हवि के, होत्र के, हवन के सम्पादक हैं। इसे उपनिषद् की भाषा में इस प्रकार सूचित किया जा सकता है-**'दानं पूर्वरूपम्, आदानम् उत्तररूपम्, अदनं संधिः, हविस्सन्धानम्, इत्यधिहोत्रम्'।**

'हू' धातु के तीनों अर्थों का अभिनय यज्ञ के अग्नि, समिधा तथा आज्यपात्रों द्वारा होता है। यजमान जहाँ अग्नि के माध्यम से देव का, घृत के माध्यम से दान का और समिधा के माध्यम से संगतिकरण का अभिनय होते देखता है, वहाँ घृत के माध्यम से दान का, अग्नि के माध्यम से आदान का और समिधा के माध्यम से अदन का अभिनय होते भी देखता है। यज्ञ-प्रक्रिया के इन तीनों तत्त्वों को एकत्रित करके हमारे मनीषियों ने अग्निहोत्र नाम दे दिया था। कोई भी व्यक्ति इस महायज्ञ में इन तीनों पदार्थों के द्वारा तीन तत्त्वों को अभिनीत देखकर किसी भी यज्ञ का अभिनेता बन सकता है-किसी यज्ञ में अग्निरूप अभिनेता, किसी में समिधारूप अभिनेता, तो किसी में हविरूप अभिनेता। हमने अपने जीवन को अभिनीय बनाना है; इसलिए नित्य अग्निहोत्र में इनका प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। यज्ञ-वेदि पर और चाहे कितने ही पात्र क्यों न हों, अग्नि, समिधा, आज्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन तीनों का होना आवश्यक है। इसको अधिकृतरूप में इस प्रकार कहा जा सकता है- **आज्यं पूर्वरूपम्। हविः उत्तररूपम्। समित् सन्धिः।**

अग्निः सन्धानम् इत्यध्यग्निहोत्रम्।

होताह, होम, व्य की त्रयी

अग्निहोत्र में प्रथम तत्त्व अग्नि है, दूसरा तत्त्व आज्य तथा तीसरा तत्त्व समित् है। उद्देश्य यज्ञ है। हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अग्नि देव का, समिधा संगतिकरण का, तथा आज्य दान का प्रतीक है। अब एक बात स्पष्ट करनी शेष है कि ये तीनों किस महादेव, किस महासमित् और किस महदाज्य के प्रतीक होकर आते हैं? अर्थात् इन अग्नि, समिधा तथा आज्यरूप प्रतीकत्रय के प्रत्यायनीय-त्रय क्या हैं? इन तीनों प्रतीकों के प्रत्यायनीय दिखाने से पूर्व यह आवश्यक है कि प्रतीक और प्रत्यायनीय इन शब्दों के अर्थ स्पष्ट कर दिये जाएं।

प्रतीक और प्रत्यायनीय

हर कलाकार कल्पना के आश्रय से ही अपने कला-भवन को खड़ा करता है। अपनी कल्पनाओं को मूर्तरूप देने के लिए, जीता जागता रूप देने के लिए वह प्रतीक गढ़ता है। कभी उन्हें लेखनी द्वारा लिखकर, कभी तूलिका द्वारा चित्रित करके और कभी छैनी द्वारा उत्कीर्ण करके अपनी कल्पनाओं को साकार रूप देता है। बस, इसी साकार रूप को **प्रतीक** कहते हैं, साथ ही उस कल्पना को, जिससे प्रेरित होकर इसने लेखनी, तूलिका या छैनी सम्भाली थी, **प्रत्यायनीय** कहते हैं।

उस परम कवि ने भी सृष्टि रचते समय कितनी ही कल्पनाओं को इस विश्व-पटल पर अंकित कर दिया, जिनका वर्णन स्वयं उसने अपने काव्य में किया भी है।

यदि मनुष्य को कल्याणहित अनुचरण का उपदेश देना था, तो सूर्य और चन्द्र को प्रतीक बनाकर ले आये-**'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।'**[१] यदि कहीं अन्योऽन्य में स्नेह के लिए प्रतीक बताना था, तो नवजात वत्स (बछड़े) को चाटती हुई गाय को ही ला खड़ा किया-**'अन्योऽन्यमभिहर्यत**

१. ऋग्वेद ५।५१।१५

जातं वत्समिवाघ्न्या।[१] यदि कहीं जीव को जगत्-निवास की असारता दिखानी थी तो अश्वत्थ-पर्ण को ही प्रतीक बना दिया-'**पर्णे वो वसतिष्कृता**'[२]-ऐ जीव! तुम्हारा निवास पत्ते पर है, अश्वत्थ वृक्ष की टहनी पर भी नहीं। अधिक क्या कहें, स्वयं अपने तथा जीव और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध को दिखाना था, तो एक वृक्ष पर दो पक्षी बिठाकर एक पक्षी की चोंच में फल लेते और दूसरे को उसकी ओर स्नेहसनी-दृष्टि से निहारते हुए दिखा दिया-'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**'[३]

गृहस्थधर्म में दीक्षित पति-पत्नी के अटूट सम्बन्ध को बताने के लिए द्यावा-पृथिवी को ही उपमा बना लिया; सूत्रकारों ने तो विवाहसंस्कार में उसका विनियोग करके, वर के मुख से इसकी घोषणा भी करवा दी कि '**हे देवि-द्यौरहं पृथिवी त्वम्**'-मैं सूर्य हूँ, तू पृथिवी है। यदि दम्पती की सूनी गोद को भरना था तो चन्द्र को ही उतार लाए तथा लोगों ने भी अपने पुत्र का नाम रखते हुए किसी को **हरिश्चन्द्र**, किसी को **रामचन्द्र** तो किसी को **कृष्णचन्द्र** कहा। फिर तो इस कड़ी में अनेक कवियों ने इन्हीं उपमाओं का आश्रय लेकर अपनी लेखनी, तूलिका और छैनी को सफल बनाया। यह विषय साहित्य-मर्मज्ञों का है, हमें तो यज्ञ-मर्म का उद्घाटनमात्र करना है; अतः हमें तो सभी यज्ञ, सभी संस्कार, सभी कर्मकाण्डान्तर्गत क्रियाएँ प्रतीक ज्ञात होती हैं। उदाहरणतः यदि मनीषी याज्ञिकों को गुरु-शिष्य की समीपता दिखानी अभीष्ट थी, तो परस्पर उपनयन के तीन सूत्र ही ढूँढ निकाले, जिनसे आचार्य और शिष्य के हृदय, चित्त और वाणी को जोड़ा जा सके। यज्ञोपवीत के तीन सूत्र भी किन्हीं अन्तःसूत्रों के बाह्य प्रतीकमात्र ही तो हैं[४]। यदि चाहा गया कि ब्रह्मचारी

---

१. अथर्व० ३।३०।१
२. संस्कारविधि, विवाह संस्कार, पार० गृह्य० १।६।३
३. बृहदारण्यकोपनिषत् ६।४।२०
४. यज्ञोपवीत पर लेखक का '**उपनयन सर्वस्व**' ग्रन्थ पढ़ें।

संयमी बने और वासनाओं का दमन करे, तो उसे दण्ड धारण करा दिया **'दण्डो दमनात्।'**[१] वह या तो स्वयं ही अपने-आप को दण्डित कर ले, अन्यथा आचार्य द्वारा दण्ड-ग्रहण कर ले अर्थात् दमन करना सीख ले। विवाहसंस्कार में यदि वधू को यह उपदेश देना अभीष्ट था कि वह गृहस्थ-मर्यादाओं का उल्लंघन न करे और न कोई अन्य व्यक्ति ही उन मर्यादाओं को लाँघकर प्रवेश पा सके, तो बस इतनी बात सिखाने के लिए वर के मुख से कहलाया-**'आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव'**[२]-इस पत्थर पर पैर रखती हुई तू पत्थर की भाँति ही मर्यादाओं में स्थिर हो जा। यदि नववधू को यह सिखाना अभीष्ट था कि 'तू परिवार-मंडल का केन्द्र है' जिसके गिर्द सारा परिवारमण्डल गति पा रहा है, तो ध्रुव-दर्शन करा दिया; कहा कि देख, जैसे सारे परिवार का केन्द्र ध्रुव नक्षत्र स्वस्थान पर अचल रहता है, उसी प्रकार तू परिवार मंडल की ध्रुव है, तुझे भी ध्रुव की भाँति अडिग रहना है।[३]

स्त्री, पुरुष का आधा भाग है, तो इसके शरीर को ही उपमा बना लाए, अभिप्राय यह है कि यज्ञों में, संस्कारों में, जहाँ भी कोई क्रिया या विधि आई है, वहाँ वह किसी-न-किसी अदृश्य कल्पना का प्रतीक बनकर आई है। सौत्रामणि यज्ञ में तो क्षुद्र तिनका भी प्रतीक बनकर आया है। पुरोहित जब अपने आसन पर आसीन होने लगता है, तो एक तिनके को अपने हाथ में थामकर **'निरस्तः पुरावसुः'**-मैंने पुरावसु नामक राक्षस को निकाल फेंका, ऐसा कहकर झटके के साथ तिनके को वेदि से बाहर पीछे की ओर फेंकता है। यह तिनके को पीठ-पीछे फेंकने का अभिनय करना, इस भावना का द्योतक है कि 'मैं यज्ञिय आसन पर बैठने से पहले एक घोषणा करता हूँ कि मेरी दृष्टि

१. दण्डो.....दमनादित्यौपमन्यवः। निरुक्त २।१
२. पार० गृह्य० १।७।१
३. संस्कारविधि-ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम्। गो० गृह्य० २।३।९

में अर्थलाभ तिनके के समान तुच्छ है, मैं इसे पीठ-पीछे फेंकता हूँ।' पुरावसु की भावना, **'फी-फस्ट'** की भावना आसुरी भावना है, यज्ञ की विघातक है। इसको निकालकर ही इस आसन पर बैठूँगा। **निरस्तः पुरावसुः**, नहीं, **पुरस्तादग्निः** बनूँगा-धन पीठ-पीछे रहेगा, अग्नि ही सामने रहेगा, आँखों में समाया रहेगा। वही मेरा पुरोहित रहेगा, धन नहीं। सौत्रामणि-यज्ञ में धन की तुच्छता को प्रदर्शित करने के लिए तिनका ही प्रतीक बना लिया गया।

लौकिक उदाहरण- १. लौकिक उदाहरणों से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाएगी। दिल्ली के लाल किले में जहाँ बादशाह बैठकर न्याय करते थे, ठीक न्याय-आसन के ऊपर पारदर्शी पत्थर पर तराजू अर्थात् तुला बना रक्खी है, जिसका काँटा ठीक है और तुला के दोनों पलड़े बराबर हैं। यहाँ तुला प्रतीक है, न्याय प्रत्यायनीय है। अब यदि कोई न्यायाधीश अपने न्यायालय में तुला रक्खे, उसपर फूल और नैवेद्य चढ़ाए और न्याय के नाम पर अन्याय, इन्साफ के नाम पर बेइन्साफी करे, तो सिवाय पाखण्ड और मूर्खता के कुछ न कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि कोई आर्यसमाजी न्यायाधीश अपनी यज्ञशाला में अन्य यज्ञ-पात्रों के साथ तुला पात्र भी रख ले और **अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा** आदि मंत्रों के साथ **'ओम् तुलायै स्वाहा इदं तुलायै इदं न मम'** कहकर यज्ञकुण्ड में आहुति तो प्रतिदिन छोड़े, किन्तु न्यायासन पर बैठकर अन्याय करे, तो इसको भी प्रतीकोपासना, पाखण्ड और दिखावा कहा जायेगा। हाँ, यदि वह न्यायाधीश यज्ञ भी करता हो और न्यायासन पर बैठकर अपने बुद्धि-काँटे को ठीक रखते हुए न्यायतुला पर पक्ष-विपक्ष को ठीक तोलता हो तो कहा जायेगा-न्यायाधीश धार्मिक है, भक्त है, सच्चा याज्ञिक है, वह प्रतीक और प्रत्यायनीय के भेद और रहस्य को जानता है। वह सबका स्तुतिपात्र कहलायेगा।

२. कम्युनिस्ट-झंडे पर हसिया और हथौड़े का चित्र अंकित

है। हसिया और हथौड़ा प्रतीक हैं, किसान और मज़दूर प्रत्यायनीय हैं। हसिया का प्रत्यायनीय किसान है, और हथौड़े का प्रत्यायनीय मज़दूर है। अब यदि कहा जाये कि हसिया-हथौड़े का सम्मान करो, हसिया-हथौड़े के अपमान से राष्ट्र की हानि होती है, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि राष्ट्र के किसान और मज़दूर का सम्मान करो, इनके अपमान से राष्ट्र की हानि होती है, राष्ट्र को क्षति पहुँचती है, तो सर्वथा ठीक है, परन्तु इस रहस्य को न समझकर कोई व्यक्ति हसिया-हथौड़े को नमस्कार करके फूल चढ़ाये और कहे कि इससे किसान और मज़दूर का पेट भर जायेगा तो सिवाय उपहास वा मूर्खता के क्या कहा जायेगा? इसी प्रकार यदि कोई मीमांसकों के विचारनुसार **हसियायै स्वाहा** कहकर एक घृताहुति अग्नि में डाल दे और समझ ले कि इससे किसान और मज़दूर का भला हो गया तो यह भी उपहास ही होगा। हाँ, उस हाथ जोड़ने और नमस्कार करने की अपेक्षा अग्नि में डाली गई आहुति से जल-वृष्टि होकर किसान और कृषि का अवश्य भला हो सकेगा।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह बात स्मरण रखने योग्य है कि प्रतीक प्रत्यक्ष है और प्रत्यायनीय अप्रत्यक्ष है, अदृष्ट है, जिस प्रकार तुला प्रत्यक्ष है, न्याय अदृष्ट है। हसिया-हथौड़ा प्रत्यक्ष हैं, किसान और मज़दूर अदृष्ट हैं। ठीक इसी प्रकार अग्निहोत्र में प्रयुक्त सभी पात्र प्रतीक हैं, प्रत्यक्ष हैं, उनके प्रत्यायनीय अप्रत्यक्ष हैं, अदृष्ट हैं। वे पात्र किसका प्रतीक हैं, यह जानना होगा। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार **अग्नि** प्रतीक है, **श्रद्धा** उसका प्रत्यायनीय है। आज्य प्रतीक है, **सत्य** उसका प्रत्यायनीय है। अग्निहोत्र में अग्नि जलाकर जब उसमें आज्याहुति देते हैं, तो इस स्थूल क्रिया के पीछे श्रद्धाग्नि में सत्याज्य की आहुति डालना अभिप्रेत है। अग्निहोत्र में अग्नि और आज्य प्रत्यक्ष हैं, श्रद्धा और सत्य अदृष्ट हैं।

उपरिवर्णित प्रतीक-प्रत्यायनीय की, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष की,

दृष्ट-अदृष्ट की स्थापना को पुष्ट करने के लिए हम शतपथ ब्राह्मण से जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद प्रस्तुत करते हैं, जिससे स्पष्ट हो जायेगा कि वास्तव में अग्निहोत्र क्या है? अग्नि, समिधा, आज्य किसका प्रतीक हैं? वेदि और यजकुण्ड किसका प्रतीक हैं? इन सबका क्या रहस्य है? याज्ञवल्क्य की दृष्टि से देखने पर अग्निहोत्र हमारी चौमुखी समस्याओं का समाधाान प्रतीत होने लगता है। तो आइए जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद का रहस्य समझें।

एक बार महाराजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया, **वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य?**-याज्ञवल्क्य! जानते हो अग्निहोत्र क्या है? याज्ञवल्क्य ने गम्भीर घोष करते हुए कहा-**वेद सम्राट्!** कि हाँ, जानता हूँ राजन्! इसपर विदेह जनक ने पूछ ही लिया कि बताइये तो वह क्या है? **'किमिति?'** याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र का मर्म समझाते हुए कहना आरम्भ किया-**'पय एवेति'** दूध ही बस, दूध ही अग्निहोत्र है।

इस उत्तर का एक-एक पद विचारणीय है। **'पय'** का अर्थ है **'दूध'** **'एव'** का अर्थ है **'ही'** तथा **'इति'** का अर्थ है **'बस'**। दूध ही बस, इसके सिवाय और कुछ नहीं; अग्नि के लिए यदि कोई दातव्य वस्तु हो सकती है, तो दूध ही है, अन्य कुछ नहीं। इतनाभर उत्तर ही याज्ञवल्क्य के द्वारा दिया गया अग्निहोत्र का समाधान है। इसमें कोई विकल्प नहीं। जनक द्वारा किये गए प्रश्नों के उत्तर में जो अनेक विकल्प दिखाए हैं, वे तो वास्तव में **'पय एव इति'** की व्याख्यामात्र हैं; पय के अनन्तरूप हैं। पाठकगण इसके स्वारस्य को समझकर ही याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद का रसास्वादन कर पायेंगे।

याज्ञवल्क्य के इस उत्तर-**'पय एव इति'**-दूध ही अग्निहोत्र है, के प्रश्न को आगे बढ़ाते हुए जनक पूछ बैठे-**यत् पयो न स्यात् तर्हि केन जुहुया इति**-जो दूध भी न हो तो उस अवस्था में किससे आहुति दें? तो याज्ञवल्क्य कुछ गम्भीर होकर

बोले-**'व्रीहियवाभ्याम्'**-चावल और जौ से आहुति दे दो।

पाठक! क्या तूने समझा भी कि याज्ञवल्क्य के उत्तर का क्या रहस्य है? उन्होंने रूप में विकल्प माना है, पदार्थ में नहीं। हवि तो दुग्धरूप ही होनी चाहिए। चावल और जौ भी तो दूध ही हैं। चतुष्पाद गाय का दूध तरल है और पृथिवीरूपी गाय का दूध शुष्क। तरल न सही, शुष्क ही सही। कोई भी धान पकने से पहले पय-रूप होता है। यह उसके कच्चे दाने को पिचकाकर देखने से ज्ञात होता है।

जनक ने पुनः प्रश्न किया-**यत् व्रीहियवौ न स्यातां तर्हि केन जुहुयाः**-कदाचित् चावल और जौ भी उपलब्ध न हों, तो किसे हवि बनाए? याज्ञवल्क्य बोले-**या अन्या ओषधयः**-जो कोई भी अन्य ओषधियाँ हों, उन्हें ले लो। इसपर जनक ने नया प्रश्न कर दिया-**यदन्या ओषधयो न स्युः तर्हि केन जुहुयाः**-यदि अन्य ओषधियाँ भी न हों तब? याज्ञवल्क्य बोले-**या आरण्या ओषधयः स्युः**-जंगल की ओषधियाँ ही ले लो। बस, अग्निहोत्र के इस रहस्य को स्मरण रखना चाहिये-**'पय एव इति'**-दूध ही बस, फिर वह आरण्य-ओषधिरूप ही क्यों न हो। प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए जनक ने पुनः पूछा- **यदारण्याऽओषधयो न स्युः तर्हि?** याज्ञवल्क्य बोले-**वानस्पत्येन**। मानो याज्ञवल्क्य ने जनक को उत्तररूप में इस यजुःमन्त्र की व्याख्या सुना दी हो-**'यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य।'**[१]

जिज्ञासुभाव से जनक ने अनुप्रश्न किया-**यद्वानस्पत्यं न स्यात् तर्हि केन जुहुयाः?**-यदि समिधाएँ भी न हों तब? याज्ञवल्क्य ने बड़े सहजभाव से उत्तर दिया कि कुछ नहीं तो जल ही ले आओ-**उद्भ्यः**-दूध नहीं तो जल ही सही। इसपर भी जनक की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई; वे फिर पूछ बैठे- **यद् आपो न स्युः तर्हि केन जुहुयाः?** याज्ञवल्क्य विचलित नहीं हुए,

---

१. यजु० ११।७३

बोले- श्रद्धारूपी अग्नि में सत्यरूप पय की आहुति देने का नाम ही तो यज्ञ है-**अहूयतैव सत्यं श्रद्धायाम्। श्रद्धा अग्निः सत्यम् आज्यम्।**[१]

मूलतः अग्निहोत्र में अग्नि **श्रद्धा** का प्रतीक है तथा आज्य, घृत **सत्य** का प्रतीक। जहाँ पर भी **श्रद्धा** में **सत्य** की आहुति पड़ रही हो, अग्निहोत्र हो रहा होता है। यह इस कथा से ज्ञात होता है। इस सारे संवाद से निम्नांकित परिणाम सम्मुख आते हैं-

१. अग्नि के लिए हव्य यदि कोई द्रव्य है, तो केवलमात्र दूध ही है, उसमें कोई विकल्प नहीं। उसके रूप में विकल्प है-आर्द्र हो अथवा शुष्क, वह दुग्धरूप हो, चावल-यव-ओषधि -वनस्पतिरूप हो अथवा जलरूप हो। यदि वह भी उपलब्ध न हो, तो हवि सत्यरूप ही हो। ये सब दूध के ही विभिन्न रूप हैं। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है-चतुष्पाद् गाय का दूध न हो, तो पृथिवीरूपी गाय का दूध-चावल-यव-ओषधि-वनस्पतिरूप हो; यदि वह भी नहीं, तो द्यौरूपी गौ का दूध-जल हो, यदि वह भी नहीं, तो वाणीरूपी गौ का दूध-सत्य तो होना ही चाहिए। यह सबसे मूल्यवती आहुति है। अग्निहोत्र में भिन्न-भिन्न गायों से दुहा गया पय उत्तरोत्तर मूल्यवान् है। भगवान् याज्ञवल्क्य के समाधान की पुष्टि यजुर्वेद संहिता के नीचे लिखे मंत्रों से होती है-

१- सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सोऽहं वाजं सनेयमग्ने ॥१८।३५॥

२- पयः पृथिव्यां पयऽ ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्[२] **॥३६॥**

३- पयसो रूपं यद् यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि॥ य० १९।२३

४- पयसो रेत ऽ आभृतं तस्य दोहमशीमहयुत्तरामुत्तरां समाम्॥
यजु० ३८।२८

---

१. शत० ११।३।१।१
२. यजु० १८।३६॥

२. इस याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद का द्वितीय निष्कर्ष यह है कि जो भी हवि लाई जाये, वह स्वयं दुहकर लाई जाये। चतुष्पाद् गौ को अपने हाथों खिला-पिलाकर, पाल-पोसकर लिया गया दूध हो। पृथिवीरूपी गौ का भी वही दोहन हवि बनाने योग्य है, जिसे यजमान ने स्वयं जोत-बोकर प्राप्त किया है। जलरूप हवि भी वही स्वीकार्य है, जिसे यजमान ने स्वयं दुहा है। चार टकों से खरीदा गया दूध नहीं, ओषधि-वनस्पति नहीं, जल भी नहीं। इसलिए याज्ञवल्क्य उस हवि को सर्वोपरि मानते हैं, जिसे टकों से न खरीदा गया हो, अपने श्रम से निर्माण किया हो।

३. याज्ञवल्क्य के उत्तर में 'अद्भ्यः'-जलों से आहुति देने की छूट का यही अभिप्राय है कि वे ही व्यक्ति जल की आहुति दे सकते हैं कि जिनके घर में दूध तथा अन्न की तो कथा ही क्या, जहाँ चूल्हा जलाने के लिए लकड़ियाँ भी नहीं मिलीं; कहीं से जान बचाने के लिए दो घूँट जल मिल गया था, तो यजमान ने सोचा कि अपने मुँह में डालने की अपेक्षा अग्नि के मुख में डालना उपयुक्त होगा। यह जल भी अग्निहोत्र है, यज्ञ की जान है। उससे जब कुछ बच रहे, उसे अपनी जान के लिए लेना। तेरी जान से यज्ञ की जान मूल्यवान् है। जल अग्नि के लिए होत्र है, यज्ञशेष तेरे लिए। उसे यह पता था कि अग्नि वाक् बनकर मुख में आ बैठा है। यजामान ने देखा कि उसके पड़ोसी की जुबान बन्द हो गई है, उसे दो चुल्लू जल की आवश्यकता है। उसने यही किया। फिर क्या था, पड़ोसी के मुँह में दो चुल्लू जल डलते ही, जान आ गई। वह भी यजमान के स्वर में स्वर मिला कर बोला-'अग्नये स्वाहा'।

जल की भी आहुति होती है [अद्भ्यः]

भगवान् याज्ञवल्क्य की इस घोषणा को सुनकर कि जल की भी आहुति दी जा सकती है, हर कोई छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन, काला-गोरा, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष, बच्चा-बूढ़ा

यज्ञाग्नि में आहुति डालने को उद्यत हो गए। ब्राह्मण ने **वाग् गौ** के **सत्य** नामक श्वेत दुग्ध की, वैश्य ने **चतुष्पाद् गौ** के **श्रीः** नामक श्वेत दुग्ध की, क्षत्रिय ने **ज्या गौ** के **यश** नामक धवल दुग्ध की आहुतियाँ दीं। यह देखकर शूद्र ने भी सोचा कि अहा! आज तो तेरे भाग्य का भी उदय हुआ है कि जो तुझे भी आहुति देने का अधिकार मिला है। सुना है वहाँ जल की आहुति भी स्वीकार की जाती है, तो चलूँ कुएँ से जल ले जाऊँ। वह दौड़ा-दौड़ा कुएँ पर जल लेने गया। अभी सीढ़ी पर चढ़ा ही था कि फटकार पड़ी-कहाँ चला आ रहा है? दिखता नहीं, अन्धा हो गया है? तू कुएँ पर नहीं चढ़ सकता। पानी नहीं ले सकता, चमट्टा कहीं का! वह ठिठककर रह गया और सोचने लगा-पानी भी नहीं! देर तक खड़ा रहा, फिर दौड़ पड़ा यज्ञशाला की ओर, और पंक्ति में लग गया। वह देख रहा था, सबके हाथ में कुछ-न-कुछ है; कोई घी, कोई फल, कोई मेवा, कोई मिष्टान्न लिये है, केवल तू ही खाली हाथ है। पंक्ति में लगा रह, नम्बर आने पर देखा जाएगा। जिसने अधिकार दिया है, वह उपाय भी बताएगा। देखते-ही-देखते उसका नम्बर आ गया। उसे खाली हाथ देख यज्ञ के ब्रह्मा ने पूछ ही लिया-प्यारे! क्या जाए हो? तुम तो खाली हाथ हो। जाओ कुछ हवि ले आओ, और कुछ नहीं तो पानी ही ले आना! सुना नहीं? भगवान् याज्ञवल्क्य ने **अद्भ्यः** (जलों) से भी आहुति देना विहित किया हुआ है। वह बोला-भगवन्! मैं यही जानकर कि पानी से भी आहुति दी जा सकती है, कुएँ पर पानी लेने ही गया था, परन्तु मुझे शूद्र जानकर किसी ने न कुएँ पर चढ़ने ही दिया, न नल ही छूने दिया। क्या करूँ, कुछ समझ नहीं आ रहा। खाली हाथ चला आया, ब्रह्मा ने कहा-प्यारे! तुम आहुति दे सकते हो, परन्तु आहुति लाओ तो सही! वह सोच में पड़ गया क्या करूँ? उसे समझ आया। वह बोला-भगवन्! ज़रा रुकिए, मैं अभी लाया। उसने फावड़ा उठाया और लगा भूमि खोदने कि अब तो पानी

निकालकर ही दम लूँगा। अभी पच्चीस-पचास फावड़े ही मारे थे कि उसने देखा-उसकी अपनी पालतू चर्म-गौ ही पिन्हा गई है। उसके रोम-रोम से पसीना फूट रहा है। यह पानी नहीं तो क्या है? उसकी खुशी का ठिकाना न था। वह फिर यज्ञशाला की ओर दौड़ पड़ा और बोला-भगवन्! पानी ले आया और अपने माथे के पसीने को समेटते हुए बोला-यह रहा मेरी अपनी चर्म-गौ का स्वेद-दुग्ध। अब तो आहुति स्वीकार कीजिये! ब्रह्मा ने स्वीकृति दी और मंत्रधवनि गूँज उठी **ओम् दयानन्दाय** स्वाहा इदं दयानन्दाय **इदन्न मम॥** वह प्रसन्नता में कहे जा रहा था-'ब्राह्मण ने शर्म[१] गौ के दुग्ध की हवि दी, वह शर्मा कहलाया। मैंने चर्म-गौ के दुग्ध की हवि दी, मैं चर्मा कहलाया। ब्राह्मण को शर्मा नाम मुबारिक, मुझे चर्मा[२] मुबारिक! यह है भगवान् याज्ञवल्क्य के जल से आहुति देने का अभिप्राय। व्यक्ति किसी दुग्ध को दुहने के लिए स्वयं श्रम करे, इतना कि रोम-रोम से स्वेदबिन्दु छलक उठें! बिना इस स्वेद-दुग्ध की आहुति के अन्य दुग्धों का दोहन असम्भव है।

आँचल में दूध और आँखों में पानी-

यज्ञ के ब्रह्मा ने सजल नेत्रों से जो सामने की ओर देखा तो देखता क्या है कि महिलाओं की टोली चली आ रही है, सोचा कि वे भी तो पुण्यलाभ करने आई हैं। परन्तु यह क्या! सभी खाली हाथ, सभी रिक्तहस्त? टोली के पास आते ही यज्ञ के ब्रह्मा ने पूछा-कैसे आई हो? टोली की ध्वनि गूँज उठी-भगवन्! सुना है कि हमें भी यज्ञ का अधिकार मिला है, आहुति देने का अधिकार मिला है, इसीलिए चली आई। ब्रह्मा ने कहा-हाँ, ठीक है पुत्रियो! आओ-आओ, आहुति दो, पर यह क्या! सभी खाली हाथ? जाओ, दूध लाओ, या पानी लाओ। टोली में से माँ पुकार उठी-भगवन्! दोनों लाई हैं। दूध भी, पानी भी। **आँचल में**

---

१. वाग्बै शर्म। ऐ० २।४०
२. चर्म वा एतत् कृष्णस्य मृगस्य तन्मानुषं शर्म देवत्रा। (शत० ३।२।१।८)

दूध, आँखों में पानी। यह सुनकर ब्रह्मा भावविभोर हो गये, दिल भर आया और बोले-अरी माँ! तुम्हें द्रव्ययज्ञ की क्या आवश्यकता है? द्रव्याहुति की क्या आवश्यकता है? तुम तो नित्य आहुतियाँ डाल ही रही हो, तुम तो मूर्तयज्ञ हो। जब तुम किसी के भूखे शिशु को आँचल में लेकर दूध पिला रही हो तो वह यज्ञ ही हो रहा होता है। किसी दुखिया की दीन अवस्था पर आँसू गिरा रही होती हो, तो वह यज्ञ ही हो रहा होता है। जाओ, तुम तो मूर्तयज्ञ हो, द्रव्ययज्ञ से मुक्त। जिनका **सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः** मंत्र हो जाये उन्हें आहुति की क्या आवश्यकता? इसलिए निष्काम सेवाधर्म में दीक्षित सन्यासी, स्त्री और शूद्र, तीनों ही द्रव्य-यज्ञ से मुक्त। उन्हीं की पीठ पर तो नाना प्रकार के दुग्धों का दोहन हो रहा है, आहुति निर्माण हो रही है। कवि पुकार उठा-

अबला-जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

यह है याज्ञवल्क्य के **'पय एव इति'** मंत्र की वास्तविक व्याख्या।

श्वेत क्रान्ति के बीज-

उपर्युक्त जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद में, महर्षि याज्ञवल्क्य के तीन शब्दों वाले उत्तर में **श्वेत क्रान्ति** के बीज सन्निहित हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उसके लिए उचित भूमिका मिले। जिस दिन इन बीजों को उचित भूमिका मिलेगी, उसी दिन श्वेत क्रान्ति होगी और समाज की काया पलट जाएगी, सर्वत्र शन्ति और अभय का राज्य स्थापित हो जाएगा। संसार के बुद्धिजीवियों को उसके लिए अनुकूल भूमि निर्माण करने में जुट जाना चाहिए जिससे ये बीज अंकुरित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण करें, जिसकी शीतल छाया में मानव-समाज एक परिवार बनकर रहे।

श्वेत क्रान्ति के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य-

जब कोई परिवर्तन धीरे-धीरे आता है, तो उसे सुधार कहते हैं। और जब कोई परिवर्तन बड़े वेग से आता है तो उसे 'क्रांति' कहते हैं। विश्व में अनेक बार क्रांतियाँ हुईं और अब भी हो रही हैं। सूर्य भी क्रांति करता है। ये संक्रांतियाँ होती हैं। उनका अभिप्राय यही होता है कि सूर्य बड़े वेग से एक स्थान से दूसरे स्थान में क्रांति कर रहा है।

रशिया और चाइना में क्रांति हुई तो लोगों ने उसे रक्त-क्रांति कहा, लाल क्रांति कहा। हमारे देश में क्रांति की संज्ञा हरित क्रांति रक्खी गई। परन्तु जिस क्रांति का हम वर्णन करने लगे हैं वह है **श्वेत क्रांति।** तीन ही क्रांतियाँ हो सकती हैं-रक्त क्रांति, हरित क्रांति, या फिर श्वेत क्रांति। चौथी नहीं हो सकती। उसका कारण है कि प्रकृति के तीन ही गुण हैं-**सत्त्व, रजस्** और **तमस्।** सत्त्व सफेद है, रजस् लाल है और तमस् हरा। कोई भी क्रांति होगी तो इनके अन्तर्गत आ जाएगी। आप श्वेत क्रांति न कहकर सत्त्व क्रांति कहिए, रक्त क्रांति न कहकर रजस् क्रांति कहिए, हरित क्रांति न कहकर तमस् क्रांति कहिए, अन्तर कुछ नहीं है। हाँ, एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि क्रांति कोई हो, उसका परिणाम श्वेत क्रांति होना चाहिए।

सहस्रों वर्ष बीत गए। श्वेत क्रांति के प्रथम उद्घोषक याज्ञवल्क्य हुए, जिन्होंने घोषणा की-संसार में श्वेत क्रांति लानी होगी, तब कहीं विश्व में शान्ति होगी, अन्यथा नहीं। फिर मानव-जीवन की कोई समस्या ऐसी नहीं होगी जिसका हम समाधान न कर सकें।

इस सम्पूर्ण प्रतीकात्मक संवाद का सार यह है कि जो भी सवन हो, दोहन हो, वह दुग्धरूप हो। चाहे वह पृथिवी से सवन किया गया हो या अन्य किसी से। याज्ञवल्क्य ने जहाँ जनक की समस्या का समाधान **'पय एवेति'** से किया है, वहाँ राष्ट्रों की अन्न-समस्या, स्वास्थ्य-समस्या, ज्ञान-समस्या का समाधान भी

'पय एवेति' से कर दिया है। कोई भी राष्ट्र अपनी भूमि से उन ही अन्नों को उगाए, जो दुग्धरूप हों। राष्ट्र का अरण्य-विभाग भी उन्हीं ओषधियों को उपजाए, जो दुग्धरूप हों। बस, **'पय एव इति'** ही कसौटी हो; इससे भिन्न राष्ट्र के लिए अनुपयोगी हैं। यदि इस रहस्य को समझ लिया जाये तो कोई समस्या, समस्या ही नहीं। राष्ट्र की अन्न-समस्या, स्वास्थ्य-समस्या आदि का समाधान स्वतः हो जायेगा। इस प्रकार दी गई आहुति भी अग्नि के लिए होत्र है-अग्निहोत्र है। अब इन समस्याओं पर विचार करते हैं, जिनका समाधान अग्निहोत्र मं समाहित है।

भूख की समस्या और अग्निहोत्र

राष्ट्र की भूख-समस्या का हल भी इसी **'पय एव इति'** उत्तर में निहित है। वैश्य को तथा कृषक को देखना है कि पृथिवीरूपी गौ से जो कुछ दुहना है वह पयरूप हो। वह अन्न नहीं, जो पयरूप न हो। वह राष्ट्र की लाखों एकड़ भूमि तम्बाकू, चाय, कॉफी आदि के बोने के लिए न घेरे। वह ऐसे ही अन्न उपजाए जो पयरूप हों। उसकी वह आहुति महती आहुति है, उसका यह अग्निहोत्र महायज्ञ है। इसलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने किसान की इस आहुति को भी स्वीकार करते हुए कहा है- **ब्रीहियवाभ्याम्'**-जौ-चावल से भी। ध्यान रखना चाहिए कि ब्रीहि=चावल, यव=जौ, दोनों ही उन अन्नों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो दुग्धरूप हैं। चावल और जौ पकने से पूर्व दुग्धरूप ही होते हैं- **'पय एव इति'** दूध ही बस। यही पृथिवीरूपी गाय का दुग्ध है।

कोई किसान भूमिरूपी गौ को दुहते हुए, यदि सर्वथा नवीन दुग्ध दुहता है, जो अतीत के ब्रीहि, यव गोधूम आदि से भिन्न होते हुए राष्ट्र की भूख-समस्या को हल करता है, तो जानो उसकी यह एक आहुति होत्र-सर्वस्व है, अग्निहोत्र-सर्वस्व है। उसका अग्निहोत्र सफल, उसका पद इन्द्रासन, वह शक्र, वह शतक्रतु।

स्वास्थ्य-समस्या और अग्निहोत्र

राष्ट्र की स्वास्थ्य-समस्या का हल भी **'पय एव इति'** उत्तर में सन्निहित है। राष्ट्र का औषध-वनस्पति-विभाग निर्णय करे कि उसे राष्ट्र के वनों में, अरण्यों में क्या उपजाना है? उसे ऐसी ओषधियाँ और वनस्पतियाँ ही उपजानी हैं, जो दुग्धरूप हों। ऐसी ओषधियाँ ही रोग के लिए परम हवि हैं, उसके स्वास्थ्य-यज्ञ में परम हवि हैं, होत्र सर्वस्व हैं- अग्निहोत्र सर्वस्व।

जल-समस्या और अग्निहोत्र

अन्त में राष्ट्र की अन्न-समस्या, ओषधि-समस्या, वनस्पति-समस्या जिसपर निर्भर है, जिसके बिना किसी भी गौ का दोहन असम्भव है, उसकी ओर निर्देश करते हुए कहा कि **'अद्भ्यः'**-जलों से। यदि जल का ठीक प्रबन्ध नहीं तो जल राष्ट्र के खेतों, वनों और अरण्यों में कैसे पहुँचाया जाएगा? जिससे न व्रीहि-यव ही उपजेंगे, न ओषधि-वनस्पति ही उपजेंगी और न चतुष्पाद् गौ ही दुही जा सकेगी। इसलिए जल को आहुति बनाओ और उसके लिए द्यौ नाम की गौ को दुहो, वर्षा-जल का प्रबन्ध करो, जिससे राष्ट्र की चप्पा-चप्पा भूमि सिञ्चित हो, वन और अरण्य सिञ्चित हों, जोहड़, पोखर, तालाब और कुएँ भरे हों, उसके स्रोत अक्षय हों, और यह तभी सम्भव है, जब द्युरूपी गाय को दुहा जाये। उसकी याद दिलाते हुए याज्ञवल्क्य बोले-**'अद्भ्यः'**।

ज्ञान-समस्या और अग्निहोत्र-

राष्ट्र की अन्तिम और सर्वोपरि समस्या अज्ञान की समस्या है, जिसके हल होते ही उपर्युक्त सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाएँगी। जब तक राष्ट्र में अज्ञान है, तब तक न चतुष्पाद् गाय ही दुही जायेगी, न किसान ही उत्तम अन्न उपजा पायेगा, न वनविभाग तथा न अरण्य-विभाग उत्तम ओषधि-वनस्पतियाँ उपजा पायेंगे, न समय पर वर्षा कराई जा सकेगी, न राष्ट्र की खेती ही सम्यक् प्रकार हो सकेगी, न वापी, कूप, तड़ाग ही

प्यास बुझायेंगे। अतः याज्ञवल्क्य अग्निहोत्र के लिए अन्तिम आहुति का निर्देश करते हुए कहते हैं-**'सत्यमाज्यम्'**।

क्षत्रिय की ज्या-गौ-

जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद में आदि और अन्त में जिन दो दुग्धों का वर्णन हुआ है उनमें प्रथम दुग्ध चतुष्पाद् गौ का और अन्तिम दुग्ध वाणीरूपी गौ का है। इन दोनों दुग्धों को एकत्र कर देना **अग्नि-होत्र** है। घृत-रूपी हवि और सत्यरूप मन्त्र को एकत्र कर देना अग्निहोत्र है। घृत की उपलब्धि गौ से तथा मंत्र की उपलब्धि ब्राह्मण से होती है। दोनों हवियों के मूलस्त्रोत **गौ** और **ब्राह्मण** की रक्षा होनी चाहिए। इनकी रक्षा करना **क्षत्रिय** का परम कर्तव्य माना गया है। ऐसा अवसर आने पर क्षत्रिय अपने धनुष पर ज्या चढ़ाता है; ज्या-गौ को दुहना पड़ता है। ज्या-गौ से निकली हुई शररूपी दुग्ध-धाराएँ, गौ और ब्राह्मण की रक्षा करती हैं। क्षत्रिय की यही महती आहुति है, **होत्र-सर्वस्व** है, **अग्निहोत्र-सर्वस्व** है।

ध्यान रहे कि-उक्त सभी गौएँ न पाली जा सकेंगी, न दुही जा सकेंगी, न दुग्ध का सेवन हो सकेगा, यदि शूद्र सेवा न करे। अतः शूद्र भी अपनी चर्म-गौ को दुहता है। चर्म-गौ से निकले स्वेदबिन्दु सेवा-दुग्ध में बदल जाते हैं। जब शूद्र सेवा-दुग्ध की आहुति देता है तब कहीं वाग्-गौ, चतुष्पाद् गौ और ज्या-गौ की पालना होती है, तब कहीं सत्य, यश और श्री-दुग्धों की प्राप्ति होती है, तब कहीं यज्ञ सम्पन्न होता है। याज्ञिकों की परिभाषा में सेवा के लिए भी **श्रीः** शब्द का प्रयोग होता है। तभी हम कह सकेंगे कि अग्निहोत्र की सिद्धि के लिए ब्राह्मण वाग्-गौ के सत्य-दुग्ध को, क्षत्रिय ज्या-गौ के यश-दुग्ध को, वैश्य चतुष्पाद्-गौ के श्री-दुग्ध को, और शूद्र चर्म-गौ के स्वेद-दुग्ध को अर्थात् सेवा-दुग्ध को अमृत बनाता है। इसी की घोषणा यजमान आचमन करते समय **सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीःश्रयताम्** वाक्य में करता है।

अधिगव संहिता-

आइये उक्त विवरण को ऐतरेय उपनिषद् की अधिकृत भाषा में आबद्ध कर दें। **सत्यं पूर्वरूपम्। श्रीः उत्तररूपम्। यशः सन्धिः। सेवा सन्धानम्। इत्यधि सवनम्।'** और अधिगव कक्षा को भी अधिकृत किया जा सकता है। **वाग्-गौः पूर्वरूपम्। चतुष्पाद् गौः उत्तररूपम्। ज्या-गौः सन्धिः। चर्म-गौः सन्धानम्। इत्यधिगवम्।**

वाक्कामधेनु के चार स्तन-

इस प्रकार **'पय एव इति'** की व्याख्या करते हुए विभिन्न दुग्धों के मिष से गौओं का वर्णन किया जा चुका। जहाँ पहला दुग्ध चतुष्पाद् गाय का है, वहाँ अन्तिम सत्य-दुग्ध वाणीरूपी गौ का है। जिस प्रकार चतुष्पाद् गौ के चार स्तन होते हैं, वैसे ही वाग्-गौ के भी चार स्तन होते हैं जिसका वर्णन ब्राह्मणकार ने इस प्रकार किया है-**'वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारञ्च वषट्कारञ्च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरः।'**[१] देवों के लिए जैसे स्वाहा शब्द का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही वषट्कार शब्द का। यथा-'अग्नये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, अग्नये वषट्' आदि।

स्वाहाकार और वषट्कार दो स्तन

देवों को दो बातें रुचिकर हैं-स्वाहा तथा वषट्कार। वे चाहते हैं कि यजमान उनके लिए 'स्वाहा' उच्चारण करे, 'वाह-वाह' उच्चारण करे। वे इतने मात्र से जी उठते हैं। वाग्-गौ के स्वाहाकार-स्तन की यह धारा जब उनके कान में पड़ती है तो मानो उनमें प्राणों का संचार हो जाता है। वे पूजा चाहते हैं, समर्पण चाहते हैं, और कुछ नहीं। स्वाहा शब्द का एक अर्थ समर्पण भी है। स्वाहा शब्द का निर्वचन है-**'सु-आह वाङिति'**-उत्तर कथन ही स्वाहा है। उत्तर कथनों में 'वाह-वाह'

---

१. शत० १४।८।९।१

से बढ़कर क्या होगा? इसीलिए देव 'स्वाहा' से ही प्रसन्न हो जाते हैं।

हन्तकार तीसरा स्तन है-

जहाँ देवजन लोग स्वाहाकार के आश्रित जीते हैं, वाह-वाह के आश्रित जीते हैं, वहाँ साधारण मनुष्य 'आह' सुनकर जीते हैं। जब उनके दुःख-दर्द पर करुणार्द्र कोई यजमान सहानुभूति में आह भरता है, तो वे भी जी उठते हैं। वे समझते हैं कि किसी ने हमारे दुःख-दर्द में कम-से-कम सहानुभूति की एकाध आह तो भर दी। क्या यह कम है? देवों को 'वाह' मुबारिक, हमको 'आह' मुबारिक! मेरे यजमान! जहाँ तू देवों को 'वाह-वाह' सुनाता है, हमें 'आह-आह' सुना दिया कर। हमें यही पसन्द है। इसी उर्दू 'आह' शब्द को संस्कृत भाषा में **'हन्त'** कहते हैं-**'हन्तकारं मनुष्याः'**[१]। वाणी के हन्तकार-स्तन का पान करके मनुष्य जी उठते हैं। **'हन्त'** शब्द के दो अर्थ हैं-एक आश्चर्य और दूसरा खेद। सामान्य मनुष्य के दुःख-दर्द में कोई खेद व्यक्त कर दे, सहानुभूति में दो शब्द भी कह दे, तो वे जी जाते हैं। इसी प्रकार उनके किसी महत्त्वपूर्ण कार्य पर कोई उन्हें 'शाबाश' कह दे, तो उत्साहित होकर अमर हो जाते हैं। इसलिए उनकी कृति पर कम-से-कम वाणी से कह दो-चित्रम्! आश्चर्य है! कमाल है!

वषट्कार दूसरा स्तन है-

देवों के लिए जहाँ स्वाहाकार अत्यन्त प्रिय दुग्ध-धारा है, वहाँ वषट्कार भी एक अत्यन्त प्रिय धारा है। वषट्कार का प्रयोग उसी समय किया जाता है, जब कहीं विधि-विधान के विपरीत अनृत-आचरण हो रहा हो। देवों को विधि-विधान के विपरीत अनृत-आचरण अप्रिय है। वे चाहते हैं कि उनके कहे हुए उपदेश और विधि-विधान का यथावत् पालन हो। उसके विपरीत बड़ी-से-बड़ी रचना भी मिटा दी जाएगी, ढहा दी

१. शत० १४।८।९।१

जाएगी। समस्त अनृत आचरणों को समाप्त करके फिर से नवनिर्माण किया जाये। अनृत को ढहाने के लिए जिस वज्र की आवश्यकता है, उसका नाम वषट्कार है-**'वज्रो वै वषट्कारः'**[१]। वाणी का प्रयोग जब अनृत आचरण को वर्जित करने के लिए किया जाता है, तो उसे सुनकर देव प्रसन्न हो उठते हैं। झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो, इत्यादि वर्जनरूप आदेश **वज्र** हैं। उसी के लिए **वषट्कार** ध्वनि की जाती है। यज्ञ में ब्रह्मा वषट्कार का प्रयोग उसी समय करता है, जबकि यज्ञ में विधि-विधान के विपरीत आचरण हो रहा होता है। देवों को विधि-विधान पसन्द है। इसीलिए जब कोई ब्राह्मण वषट्कार वज्र का प्रयोग करके उनके विधि-विधान की रक्षा करता है, तो वे इससे अनुप्राणित हो उठते हैं। वेद-ब्राह्मण के मूर्धन्य विद्वान् पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कार ने पञ्चयज्ञ-प्रकाश में लिखा है : "वषट्कार का अर्थ है thoroughness अर्थात् अधकचरा काम करके सन्तुष्ट न हो जाना। चाहे एक दीवार को तोड़कर दस बार बनाना पड़े, परन्तु बने पूरी नाप के अनुकूल। इस attention to detail द्वारा कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने का नाम वषट्कार है।" यही बात आचरण के क्षेत्र में है। यदि समाज में विधि-विधान के विपरीत नई दीवारें खड़ी कर दी गई हैं, जो टेढ़ी और भोंड़ी हैं, उन्हें गिरा देना ही श्रेयस्कर है; अन्यथा भय है कि कोई उनके नीचे आकर दब न जाये, अतः उन दीवारों को ढहाने के लिए जब ब्राह्मण वाणी का प्रयोग करता है, तो वहाँ वषट्कार का प्रयोग दुराचारियों के लिए वज्रप्रहार होता है और देवों के लिए प्राणधारा। इसलिए कहा-**"वषट्कारं देवा उपजीवन्ति"।**

स्वधाकार चौथा स्तन है-

वाग्-गौ के तीन स्तनों-स्वाहाकार, वषट्कार और हन्तकार का वर्णन हो चुका। चौथे स्तन, जिसका नाम स्वधाकार है,

१. शत० १।३।३।१४; ऐ० ३।८।२

उससे स्वधा की धाराएँ बहती हैं। इसे पितरगण पीकर तृप्त हो जाते हैं, अनुप्राणित हो जाते हैं[1]। स्वधा शब्द का अर्थ है- **'स्वत्वात् धारणयोग्या:'**[2] ये अपने हैं, अत: हर अवस्था में धारण करने योग्य हैं। अपने पुत्र तथा पुत्र-वधु के मुख से निकली हुई इस बात को कि 'चाहे वे वृद्ध हो गए हों या असहाय हो गये हों, हैं तो अपने ही। बचपन में इन्होंने हमारा लालन-पालन किया था। अब हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन्हें धारण करें।' कानों में पड़ती हुई अमृत-तुल्य धारा को सुनकर पितर जी उठते हैं, उनको सान्त्वना मिलती है। उन्हें यह ही पर्याप्त है। अत: ऐ पुत्र और पुत्रियो! कुलवधुओ! अपने मुख से सदा 'स्वधा' का उच्चारण करना। जब कहना यही कहना- **'पितृभ्य: स्वधायिभ्य: स्वधा नम:'**[3]। स्वधा के अधिकारी पितरों के लिए यह हमारी स्वधा है, भेंट है। ऐ शर्मन्! तेरी वाणी हमारी शर्म=शरण है, हम तेरी शरण आए हैं। तू देवों को स्वाहा और वषट्कार द्वारा, साधारण मनुष्यों को हन्तकार द्वारा, पितरों को स्वधाकार द्वारा अपनी शरण में ले लेना। इससे अपने शर्मा नाम को सार्थक कर लेना-आरे **देवा:.....अरु ण: शर्म यच्छता**[4]।

मस्तिष्क ही औंधा घट है-

इस प्रकार वाणी के स्तनचतुष्टय का वर्णन किया जा चुका। इसमें एक बात ओर कथनीय है। देव अमर हैं, वे मर-हवि स्वीकार नहीं करते। उनके लिए अमृत-हवि की आवश्यकता है, जिसके तीन रूपों का वर्णन आचमन-प्रक्रिया में विस्तृत रूप में होगा। समुद्र-मन्थन करते हुए चौदह रत्नों में से एक अमृतपात्र भी था, जो कि मात्र देवों को परोसा गया था। हम नहीं कह सकते कि वह समुद्र कौन-सा था तथा वे चौदह

१. शत० १४।८।९।१
२. स्वधा वै पितृणामन्नम्।-शत० १३।८।१।४
३. यजु० १९।३६
४. ऋग् १०।६३।१२

रत्न कौन-से थे, परन्तु इतना ज्ञात है कि मनुष्य अपने-आपमें समुद्र है-**'पुरुषो वाव समुद्रः'**[१]- पुरुष भी समुद्र की भाँति गम्भीर और अथाह है। यदि इसका मन्थन हो, तो चौदह रत्नों की उपलब्धि होती है। अमृत-घट तो स्पष्ट ही इसके ग्रीवा पर औंधा रक्खा है, जिसका वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों ने-**'अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'**[२] कहकर तथा अथर्ववेद ने **'तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'**[३] कहकर किया है, अर्थात् जिसमें बिल नीचे को और पैंदी ऊपर को बनी हुई है। यजमान की देहरूप यज्ञशाला पर शिरः-पात्र ही वह औंधा घट है, जिसमें से सत्य, यश तथा श्रीरूप अमृत का सवन होता है तथा जिसमें जिह्वारूपी चमस द्वारा अमृत देवों के लिए बाँट दिया गया। यह स्पष्ट है कि सत्य का निवास-स्थान यही घट है और 'तिर्यग् बिलः' में इस घट का वर्ण करते हुए उसमें यश निहित होने की बात कही गई है-**'त्तिस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्'**[४]। साथ ही इसको शिर संज्ञा इसलिए दी गई है कि इसमें श्री का दोहन किया जाता है-**'यच्छ्रियं समुदोहँस्तस्माच्छिर इत्याचक्षते'**[५]। इस प्रकार देहवेदि पर रखे हुए शिरः-पात्र के सत्य, यश तथा श्रीरूप तीनों अमृतों का पान जहाँ यजमान स्वयं करे, वहाँ अन्यों को भी कराए। ये तीनों सत्य, यश तथा श्री ही किस प्रकार व्यक्ति में, परिवार में तथा राष्ट्र में अमृत बनते हैं, इसका वर्णन आगे किया जाएगा।

इस सम्पूर्ण प्रकरण से यह स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार 'पयः' को दुग्ध, घृत को व्रीहि, यव, ओषधि, वनौषधि, आपः तथा अन्ततोगत्वा सत्य का प्रतीक बनाया गया है तथा अग्नि को श्रद्धा का। इस **'पय एव इति'** के कहने मात्र से तथा इस प्रतीकात्मकता के रहस्य को जान लेने से राष्ट्र, समाज तथा परिवार की सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

१. जै० उ० ३।३५।५ २. शत० १४।५।२।५
३. अथर्व० १०।८।९ ३. अथर्व० १०।८।९
५. शत० ६।१।१।४

याज्ञवल्क्य के अन्तिम उत्तर-'सत्यं श्रद्धायाम् इति', 'सत्यमाज्यं श्रद्धा अग्निः'-श्रद्धारूपी अग्नि में सत्यरूप आज्य की आहुति देना अग्निहोत्र है। एक हवि है, तो दूसरा अग्नि है। वही सत्य जब श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है तो अग्नि बन जाता है। जिस प्रकार अग्नि सबका अगुआ है, अग्रणी है, सबको लिये चल रहा है, तद्वत् व्यक्ति को श्रद्धा लिये चलती है, उसके लिए अग्रणी और अग्नि का रूप धारण कर लेती है। तब जाकर अग्नि अमृत बनता है। **'जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्'**[१]-देव अमर हैं और उनके लिए दी जाने वाली सत्यरूप हवि भी अमृत ही है। उसी सत्य के फिर तीन रूप हैं, जिसकी घोषणा यजमान आचमन-प्रक्रिया में करता है। पहले आचमन को अमृत का बिछौना, दूसरे आचमन को अमृत का ओढ़ना, अमृत क्या है? इसकी घोषणा तृतीय आचमन में करता है-**सत्यं, यशः श्रीः**। ये तीनो ही किस प्रकार व्यक्ति, परिवार तथा राष्ट्र में अमृत बनते हैं, प्रसंगोपात्त इसका वर्णन करते हैं।

व्यक्ति में अमृत

व्यक्ति में अमृत के ये तीन रूप उसके तीन केन्द्रों में प्रकट होते हैं। मस्तिष्क में तर्क द्वारा निर्णीत सिद्धान्त सत्य है। यदि वह मस्तिष्क तक ही सीमित है तो सत्य कहलायेगा, यश नहीं। जब इस निर्णीत सत्य को हृदय स्वीकार कर लेगा, तभी यह यश-रूप धारण कर लेगा। यश शब्द का अर्थ है छा जाना, व्याप जाना (अशूङ् व्याप्तौ)। व्यक्ति के किसी गुण का लोक-हृदय तक छा जाना ही यश कहलाता है। इसी प्रकार मस्तिष्क से निकला हुआ निर्णीत सत्य, जब हृदय पर छा जाता है, उस पर व्याप जाता है, तो वह यश का रूप धारण कर लेता है। यह सत्य का ही दूसरा रूप श्रद्धा है-मस्तिष्क में सत्य, और हृदय में वही श्रद्धारूप। श्रद्धा से आविष्ट व्यक्ति जब उसे आचरण का रूप दे देता है, तभी सत्य श्री का रूप धारण कर लेता है।

---

१. शत० १।२।१।२०

व्यक्ति के आचरण में, उसकी चेष्टा में, उसकी हलचल में, सत्य मूर्त बन जाता है। इसी मूर्त्तरूप को श्री कहते हैं। यह व्यक्ति में अमृत का दर्शन है। अमृत के इन तीन रूपों को समझने के लिए यह उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। उद्यान में लगी हुई कली सत्यरूप है। खिला हुआ फूल श्रीरूप है। दिग्दिगन्त में फैली हुई सुगन्ध लोक-हृदय पर छा जाने से यशरूप है-सत्य यशः श्रीः।

सत् श्री अकाल

सिक्ख लोग किसी व्यक्ति को धर्म की दीक्षा देते समय अमृत छकाते हैं। उस प्रक्रिया में भी घूँट-भर जल पीना होता है, मानो आचमन करना। यह याज्ञिकों की आचमन-प्रक्रिया का ही परिवर्तित रूप है। सम्भवतः वे नहीं जानते कि अमृत क्या है। कदाचित् उनके पास ये आचमन-मंत्र होते, तो अमृत का रूप स्पष्ट हो जाता। उसी अमृत की घोषणा उनके जयघोष में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वे 'जो बोले से निहाल' के उत्तर में एकस्वर में कहते हैं-**'सत् श्री अकाल'**। इसमें सत् और श्री का रूप तो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, परन्तु यश के लिए 'अकाल' शब्द का प्रयोग है। कीर्ति और यश ही वह गुण है, जिस पर काल का प्रभावा नहीं होता, अन्यथा काल सबको कवलित कर जाता है। इसलिए यश न कहकर 'अकाल' कहते हैं। जहाँ परमात्मा सत् श्री अकाल-रूप है, वहाँ व्यक्ति में सत्यं, यशः, श्रीः, तीन अमृत, तीन अकाल हैं।

समाज के मस्तिष्क ब्राह्मण में जो विचार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से निर्णीत होता है, उसे सत्य कहते हैं। उसके लिए वही अमृत है। हर उपाय से इसे न मिटने देना ही, न मरने देना ही उसका दायित्व है। यश और श्री की कामना न करते हुए सत्य को अमृत बनाना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है-मानापमान से दूर, यशः-श्री से दूर, सत्य का पोषक और रक्षक। प्राणों की आहुति देकर भी सत्यरूप आहुति की रक्षा करता है। ब्राह्मण जहाँ सत्य को अमृत

बनाता है, वहाँ क्षत्रिय यश को अमृत बनाता है, उसके लिए कीर्ति और वाह-वाह अमृत हैं। नाम की कामना उसके लिए अमृत है, अपयश मृत्यु है। इसीलिए श्रीकृष्ण क्षत्रिय अर्जुन को कीर्ति के नाम पर ही अपील करते हैं। वे कहते हैं-हे अर्जुन! इस विषम परिस्थिति में यह उदासीनता अच्छी नहीं, यह भीरुपन है; यह तू अपने आप को जहाँ अनार्य बनाएगा, नरकगामी बनाएगा, वहाँ अपयश का भागी बनेगा और यह अकीर्ति तेरी अव्यय होगी-**'अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।'**[1] क्षत्रिय अव्यय यश तभी प्राप्त करता है, जब वह ब्राह्मण के सत्य को प्रथम अपने हृदय पर स्थापित करके, पश्चात् लोक-हृदय पर स्थापित कर दे। उसे संविधान का रूप देकर, अवज्ञा करने वालों को दण्ड देकर, जब राष्ट्र में उसकी स्थापना कर देता है, तभी वह यश का भागी बनता है, अन्यथा नहीं।

इस सत्य को मूर्त्तरूप देने के लिए, जीता-जागता रूप देने के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन का दान वैश्य-वर्ग के अधीन है। वैश्य अपने धन द्वारा जब सत्य और यश को आश्रय देता है, तभी उसका धन **श्रीः** कहलाता है। यही उसका अमृत है। अन्यथा धन लक्ष्मी हैं, दौलत है, सब-कुछ है, परन्तु **श्री** नहीं है। इसीलिए बालक को आशीर्वाद देते हुए जहाँ **वर्चस्वी, तेजस्वी** होने की बात कही जाती है, वहाँ **श्रीमान्** होने की बात भी कही जाती है। भावी राष्ट्र-पुरुष को जहां ब्रह्मवर्चस्वी बनाकर, ब्राह्मण बनाने की कामना निहित है, तेजस्वी बनाकर क्षत्रिय बनाने की भावना निहित है, वहाँ श्रीमान् कहकर वैश्य बनाने की भावना स्पष्ट है। इसलिए किसी भी यजमान के लिए लक्ष्मीवान् न कहकर श्रीमान् कहा जाता है। यजमान अपने आसन पर आसीन होकर इसी की घोषणा करता है।

---

१. गीता २।३४

राष्ट्र में अमृत

जब राष्ट्रपति यजमान के आसन पर आसीन होता है, तो समाज पुरुष के शीर्षस्थानीय ब्राह्मण अथवा संन्यासी में **'सत्य'** के अमृत होने की, हृदय-स्थानीय क्षत्रिय में **'यश'** के अमृत होने की, नाभिस्थानीय वैश्य में **'श्री'** के अमृत होने की घोषणा करता है। उसके लिए द्विजत्रय में स्थित गुणत्रय अमृत हैं।

परिवार में अमृत

परिवार के तीन प्रमुख सदस्य हैं-पिता, माता और पुत्र। पिता यदि मस्तिष्क-प्रधान है, तो माता हृदय-प्रधान और पुत्र दोनों से संक्रान्त शरीर-प्रधान। मस्तिष्क में सत्य का निवास है; फलतः पुरुष में सत्य का, व्रत का, धर्म का स्थान है। वही व्रत जब स्त्री-शक्ति में अपना स्थान बना लेता है, तब पुरुष वर कहलाता है। स्त्री समस्त शक्ति सँजोकर पुरुष के इस व्रत की, धर्म की रक्षा करती है। इसीलिए नारी धर्म-(व्रत)-पत्नी कहलाती है; परन्तु यह तभी सम्भव है जब पुरुष का व्रत स्त्री के हृदय पर आसीन हो जाये, व्याप्त हो जाये, यशस्वी हो जाये। इसी यशः-प्रतिष्ठा के कारण कोई भी स्त्री पुरुष का वरण करती है तथा अनुव्रता कहलाती है। वह व्रत पुरुष में सत्यरूप, स्त्री में यशरूप होकर जब पुत्र में संक्रान्त होता है, तब उसका नाम श्री हो जाता है। इसलिए पुत्र श्री रूप है। पिता जहाँ अपने व्रत को पुत्र में संक्रान्त देखकर प्रसन्न होता है, वहाँ माता अपनी आस्था और श्रद्धा को पुत्र में संक्रान्त देखकर आह्लादित होती है। इसलिए वेद में कहा-'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मना'[१]-पुत्र में पिता का व्रत और माँ का हृदय संक्रान्त होना चाहिए।

जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं कि यज्ञ-वेदि पर चाहे कितने ही पात्र क्यों न हों, अग्नि, समिधा और आज्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन तीनों का होना आवश्यक है। यह दिखाया जा चुका है कि अग्नि देव का, समिधा संगतिकरण

१. अथर्व० ३।३०।२

का तथा आज्य दान का प्रतीक हैं। ये तीनों किस महादेव, किस महासमित् तथा किस महदाज्य के प्रतीक हैं? यह जानने के लिए, प्रतीकवाद पर एक याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद भी प्रस्तुत किया, जिससे यह भी स्पष्ट हुआ कि आज्य 'सत्य' का तथा अग्नि 'श्रद्धा' का प्रतीक है।

पुरुषसूक्त में भी इसे स्पष्ट किया है; वहाँ वर्णन आता है कि परमेष्ठी जब संवत्सर-यज्ञ करने लगे, सृष्टिरचना करने लगे, तो उन्होंने वसन्त ऋतु को आज्य, ग्रीष्म ऋतु को इध्म और शरद् ऋतु को हवि बनाया।

अब प्रकृत प्रसङ्ग पर आने हेतु हम समिधा पर सर्वप्रथम विचार करते हैं, क्योंकि समिधा वह तत्त्व है, जिससे आज्य और हवि आबद्ध हैं।

समिधा और उसका परिमाण

समिधा के परिमाण के बारे में इतना ही लिखा है कि समिधा यज्ञकर्त्ता की (समित्पाणि की) आठ अंगुलियों के परिमाण की हो। ये आठ अंगुलियाँ किस भाव की प्रतीक हैं? ब्रह्मचारी समित्पाणि होकर आचार्य-चरणों में उपस्थित होता है, तब दो हाथ, दो पाँव ४,-पायु और उपस्थ ६,-वाक् और उदर ८-यह देह,-कर्ममयलोक, भूलोक, प्रथमा समित् आठ अंगुल प्रमाण की होती है। तीसरी समिधा अपने द्युलोक अर्थात् अपने बोध-सूर्य को बनाता है जो स्पष्ट ही ज्ञानेन्द्रियाँ ५,-मन, बुद्धि, चित्त आठ अंगुल परिमाण की होती है। दूसरी सूक्ष्मसमिधा उसके हृदयान्तरिक्ष की होती है। उसके हृदयगत विचार-१-आभास, २-आवेश, ३-आवेग, ४-संकल्प, ५-व्रत, ६-दीक्षा, ७-दक्षिणा, ८-श्रद्धा मिलकर ही आठ अंगुलियाँ होती हैं, जिससे हृदय-समिधा को नापता है।

राष्ट्र-यज्ञ में दीक्षित राष्ट्रपति जब समित्पाणि होकर आता है, तो उसकी प्रथम समिधा होती है-वैश्य द्वारा अर्जित आयदान। इस आय-समित् को नापने की १-धारणा-शक्ति, २-चतुरता,

३-संयम, ४-बुद्धि, ५-शरीर, ६-धैर्य, ७-शौर्य, ८-देशकाल-परिस्थिति, ये आठ अंगुलियाँ ही साधन हैं।

इसी प्रकार राष्ट्रपति के हाथ की दूसरी समिधा होती है-क्षत्रिय द्वारा अर्जित न्यायदण्ड। जिनके चार दाढ़ और चार भुजारूप आठ अंगुल ही परिमाण के साधन होते हैं, अथवा अष्टपाद ही जिसके नापने की आठ अंगुलियाँ हैं।

राष्ट्रपति के हाथ की तृतीय समिधा होती है-ब्राह्मण द्वारा स्वाध्याय-ज्ञान, जिसे उसने श्रवण, मनन, निदिध्यासन ३-अध्ययन, विचार, अभ्यास, जप, अध्यापन ८-रूप आठ अंगुलियों से नापा हुआ होता है, अथवा अष्टविध प्रमाणों से सम्पुष्ट किया होता है। वे अष्टविध साधन, अथवा प्रमाण ही स्वाध्याय-समिधा को नापने की आठ अंगुलियाँ हैं।

समिधा आठ अंगुल ही क्यों ?

'अष्ट' शब्द किस बात का द्योतक है?-'अशूङ्-व्याप्तौ से अष्ट शब्द की सिद्धि होती है। किसी पदार्थ को नापने के लिए सर्वप्रथम अंगुलियों का ही प्रयोग किया जाता है। अंगुष्ठ को छोड़कर शेष चार अंगुलियों से ही किसी वस्तु का नाप किया जाता है। दोनों हाथों की चार-चार अंगुलियों के चप्पों के योग की प्रथा है, अन्यथा एक हाथ के चप्पे से नापने में असुविधा रहती है। दोनों हाथ की चार और चार=आठ अंगुलियों से नापने में सुविधा रहती है। एक हाथ की चार अंगुलियों से नापते ही तत्काल दूसरे हाथ की चार अंगुलियाँ रक्खी जा सकती हैं। यह क्रम अन्त तक जारी रहता है। परिणामतः व्यापने अथवा कब्जा करने के कारण इन अंगुलियों की संख्या 'अष्ट' रख दी गई है, और समिधा भी उस पदार्थ को बनाया जा सकता है, जिस पर यजमान का पूरा कब्जा हो, अधिकार हो। जिस प्रकार हलाल की कमाई के लिए 'दस अंगुलियों की कमाई' का मुहावरा प्रयुक्त होता है, तद्वत् समिधा के लिए वैदिक प्रयोग 'अष्टांगुल' कहा जा सकता है।

अग्नि के प्रति समर्पण का प्रतीक समिधा है, समिधा अग्नि को सम्यक् दीप्त करती है तथा उससे एकात्म होकर स्वयं भी दीप्त होती है, तो ऐसे पदार्थ को नापने वाले अष्टांगुल किसके प्रतीक हैं? अभी-अभी हम कह आए हैं कि 'अमुक वस्तु पर मेरा पूर्ण अधिकार है', इसीलिए पूर्ण अधिकृत वस्तु के लिए व्यक्ति कहता है-यह चीज मेरी मुट्ठी में है।

यदि यजमान के प्राण उसकी मुट्ठी में हों, यदि उसका मन मुट्ठी में हो, यदि उसका अन्न उसकी मुट्ठी में हो, तो वह उसे समिधा बना दे। कहने का अभिप्राय यह है कि समिधा वही वस्तु बनाई जा सकती है, जो वस्तु अपनी मुट्ठी में हो, कब्जे की इसी भावना का द्योतक है यह 'अष्ट शब्द।

समिदाधान करते समय यजमान जिन मंगलों से समृद्ध होना चाहता है, उन मंगलों की गणना भी अष्ट ही होगी, क्योंकि ये मंगल वस्तुतः मनुष्य-जीवन पर पूर्ण अधिकार किये होते हैं। गणना की साधन अंगुलियों से गणना करने वाला अंगुष्ठ अलग होता है। वही तो प्रत्येक अंगुलि-अंगुलि पर जाकर गणना करता है। इसीलिए उसे 'अंगुल्यामगुल्यां तिष्ठति इति अंगुष्ठः' कहते हैं। इसीलिए उसे छोड़ दिया गया। वह तो गणना करने वाला है। गणना का पैमाना अंगुलियाँ ही हैं, अतः आठ अंगुलियाँ ही परिमाण का साधन होती हैं।

आठ ही मंगल, आठ ही मंगलक्षेत्र, और इस मंगलक्षेत्र में स्वतन्त्र विचरण करने वाली दक्षता की प्रतीक अंगुलियाँ भी आठ।

अष्ट मंगल

अष्ट मंगलों का परिगणन विशेषकर चार स्थानों पर हुआ है। प्रथम प्रकरण **ऐतरेय आरण्यक** में, जहाँ तीनों लोकों-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ को समिधा मानकर तीनों की देवता-अग्नि-वायु-सूर्य में समिदाधान की बात कही गई है (जिसकी व्याख्या पूर्व कर भी आये हैं)। वहाँ इन मंगलों की

कामना की गई है-१-'आयुषा, २-तेजसा, ३-वर्चसा, ४-श्रिया, ५-यशसा, ६-ब्रह्मवर्चसेन, ७-अन्नाद्येन, ८-समिन्धताम् ।' इसमें मंगलों का परिगणन सात संख्या तक है। द्वितीय प्रकरण-**वेदारम्भ-संस्कार** में **प्रथम** समिधा-समर्पण के समय ब्रह्मचारी मंगलकामना करता है। वह मन्त्र पढ़ता है-**अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे......यथा त्वमग्ने समिध्यसे एवमहं १-आयुषा, २-मेधया, ३-वर्चसा, ४-प्रजया, ५-पशुभिः, ६-ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे।** इसमें मंगलों का परिगणन ६ संख्या तक है।

तृतीय प्रकरण-**दैनिक अग्निहोत्र** में समिदाधान-मंत्र द्वारा **१-प्रजया २-पशुभिः, ३-ब्रह्मवर्चसेन, ४-अन्नाद्येन, समेधय।** इसमें मंगलों का परिगणन ४ संख्या तक है। चतुर्थ प्रकरण-इसे कर्मकाण्डान्तर्गत प्रकरण तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इसका महत्त्व सर्वोपरि है; क्योंकि यह सीधे वेद भगवान् का आदेश है-**स्तुता मया वरदा वेदमाता-प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। १-आयुः, २-प्राणम्, ३-प्रजाम्, ४-पशुम्, ५-कीर्तिम्, ६-द्रविणम्, ७-ब्रह्मवर्चसम्, मह्यम् दत्त्वा व्रजत ८-ब्रह्मलोकम्।**[1] इसमें मंगलों का परिगणन ८ संख्या तक पहुँचता है। वैसे तो यही मंत्र प्रमाण के लिए पर्याप्त है कि समिधा के आठ अंगुल परिमाण का हेतु यह है कि मंगलों की गणना आठ ही है। जिस प्रकार अष्ट अंगुलियाँ हर वस्तु को नापने का साधन है तद्वत्, प्रत्येक व्यक्ति की उत्तमता के नापने का साधन भी ये आठ मंगल ही हैं। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में मंगलों की गणना करते हुए, इनमें से एक भी मंगल को छोड़ दिया, वह अभागा ही रह गया।

वेदारम्भ[2]-वेला में ब्रह्मचारी कहता है-**इदमग्नये समिध माहार्षं बृहते जातवेदसे**-'मैं बृहत् जातवेद अग्नि के लिए समिधा ले आया हूँ। बृहत् जातवेद अग्नि तक अपनी भेंट

१. अथर्व० १९।७१।१
२. संस्कारविधि- देदारम्भ संस्कार

पहुँचाने के लिए किसी-न-किसी को माध्यम बनाना आवश्यक होता है, सो मात्र जातवेद को माध्यम बनाकर, उसके हाथ की समिधा बनना चाहता है। उसी का प्रतीकस्वरूप यज्ञकुण्ड की अग्नि है, जिसमें प्रतिदिन "अयं त इध्म आत्मा जातवेदस् तेन इध्यस्व" इत्यादि मन्त्र पढ़कर समिदाधान किया जाता है। समिदाधान का यह प्रथम पाठ जिसकी प्रतिदिन आवृत्ति की जाती है कि 'हे अग्ने! मेरा यह आत्मा तेरा ईंधन है', एक प्रकार से यह आर्ष शिक्षा-दीक्षा का प्रतिज्ञा-मन्त्र हुआ।

दोनों मंत्रों का एक साथ अध्ययन करें, तो प्रतीत होता है कि जैसे-पहला मन्त्र प्रतिज्ञा-मन्त्र हो और दूसरा मन्त्र उसी की आवृत्ति अथवा अभ्यास-मन्त्र, प्रतिज्ञा-मन्त्र में बालक, कुण्ड के दक्षिण की ओर खड़ा रहकर घृत में भिगोई एक समिधा हाथ में थामे कहता है-

'अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथात्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहम्-[१]आयुषा, [२]मेधया, [३]वर्चसा, [४]प्रजया, [५]पशुभिर, [६]ब्रह्मवर्चसेन, समिन्धे। जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधावी अहमसानि। [७]अनिराकरिष्णुर्, [८]यशस्वी, [९]तेजस्वी, [१०]ब्रह्मवर्चस्वी अन्नादो भूयासम् स्वाहा।

और इस मन्त्रोच्चारण के साथ तीन बार तीन समिधाएँ छोड़ता है। मन्त्र में निम्न तीन बातें विचारणीय हैं:

१. प्रतिज्ञा

बृहते जातवेदसे अग्नये समिधम् आहार्षम्।

कि मैं बृहत् जातवेदस् अग्नि के लिए समिधा लाया हूँ।

२. प्रयोजन

अग्ने! यथा त्वं समिधा समिध्यसे एवम् अहं समिन्धे।

हे अग्ने! जैसे तू समिधा से सम्यक् दीप्त है, वैसे ही मैं भी सम्यक् दीप्त होऊँ।

३. फलोपलब्धि

आयुषा, मेधया, वर्चसा, प्रजया, पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन

समिन्धे। आयु से, मेधा से, दीप्ति से, वीर्यशक्ति से, पशु-सेवा से और वेद-ज्ञान की दीप्ति से सम्यक् दीप्त होऊँ।

छः मंगल

ब्रह्मचारी जीवन के जिन ऐहिक मंगलों से सम्यक् दीप्त होना चाहता है, वे संख्या में छह हैं-आयुः, मेधा, वर्चस्, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस् तेज।

छहों मंगलों का विभाजन द्विधा होता है। ब्रह्मचर्य में तीन मंगलों की उपलब्धि आवश्यक समझी जाती है। हर ब्रह्मचारी आयुष्मान् बने, मेधावी बने, वर्चस्वी बने। बालक का ब्रह्मचर्य-जीवन एक समिधा है।

अगले दो मंगल प्रजा और पशु उसे गृहस्थ में उपलब्ध होते हैं। गृहस्थ-आश्रम उसकी दूसरी समिधा है।

ऐहिक मंगलों की पराकाष्ठा ब्रह्मवर्चस् में है, जिसकी उपलब्धि जीवन के तृतीय भाग वानप्रस्थ में होगी। वर्चस्विता का लोक वानप्रस्थाश्रम उसकी तीसरी समिधा है।

ब्रह्म=वेद, ईश्वर के सम्पर्क में आकर उसकी समिदाधान की प्रक्रिया अब समाप्त हुई। अब वह मूर्त्तयज्ञ हो गया। चलती-फिरती आग-प्रत्यक्ष संन्यासी।

उक्त मंगलों से दीप्त होने के लिए उसने अपनी मनोकामना निम्नांकित वाक्य में व्यक्त की है-'जीवपुत्रो ममाचार्यः'-मेरा आचार्य जीवित पुत्रवाला होवे, वह अनुभवी हो, उसने दुनिया देखी हो, बाल-बच्चों वाला हो, यतः मुझसे पुत्रवत् व्यवहार करे और मेरे इस समिदाधान द्वारा-मुझे भी इन मंगलों से युक्त करे। मेरी समिधा-बृहज्जातवेदस् के दरबार तक पहुँचा दे, जिससे मैं मेधावी बनूँ, उनके आदेश का यथावत् पालन करूँ, यशस्वी बनूँ, तेजस्वी बनूँ, ब्रह्मवर्चस्वी हो जाऊँ, और अन्नों का अत्ता बनूँ।

संप्रश्न और समाधान

लम्बे अरसे से यह विवाद चला आ रहा है कि

समिदाधान-प्रकरण में **'अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्'** मन्त्र रहना चाहिए वा नहीं, क्योंकि इस प्रकरण में जब समिधा की संख्या तीन है, तो मन्त्र-संख्या भी तीन ही रहनी चाहिए। प्रचलित विधि में मन्त्र-संख्या चार है, तो क्यों न **'अयं त इध्म आत्मा'** वाला मन्त्र निकाल दिया जाये, जिससे कि मन्त्र-संख्या तीन होने पर एक मन्त्र से एक समिधावाली संगति ठीक बैठ जाये!

'अयं त इध्म आत्मा' वाला मन्त्र समिदाधान प्रकरण से हटाए जाने से **प्रथम युक्ति** यह है कि यह वेद-मन्त्र नहीं, सूत्रग्रन्थ का मन्त्र है। **दूसरी युक्ति** यह है कि इसमें समिधा शब्द न आकर 'इध्म' शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि शेष तीनों मन्त्रों में **'समिधा'** शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिनय के अनुरूप विनियोग होना चाहिए। **तीसरी युक्ति** यह है कि जब समिधा की संख्या तीन है, तो मन्त्र भी तीन ही होने चाहिएँ, चार क्यों? अत: **'अयं त इध्म आत्मा'** वाले मन्त्र को समिदाधान-प्रसंग से हटाकर, मन्त्रों की संख्या तीन की जा सकती है। इस प्रकार एक मन्त्र से एक समिधावाली बात भी युक्त रह सकती है। अभी तक जो 'समिधाग्निं दुवस्यत' और 'सुसमिद्धाय शोचिषे' दो मन्त्रों से दूसरी समिधा छोड़कर संख्यापूर्ति कर ली जाती है, वह भी न करनी होगी-तीन ही समिधाएँ, तीन ही मन्त्र।

प्रस्तुत प्रसंग में हमारा निवेदन इतना ही है कि 'अयं त इध्म आत्मा' वाले मन्त्र को निकाल देने से अग्निहोत्र की आत्मा ही निकल जाएगी, क्योंकि इसी एक मन्त्र में वे सम्पूर्ण भाव निहित हैं, जो किसी समर्पणकर्त्ता के हृदय में समिदाधान के समय उठते हैं। उसकी प्रतिज्ञा होती है कि-हे अग्ने! मेरा यह आत्मा तेरे हाथ का इध्म है। इससे स्वयं चमको और मुझे भी चमकाओ, इससे स्वयं बढ़ो और मुझे भी बढ़ाओ।

यज्ञ-भूमि एक नाट्यशाला है। वहाँ हर वाक्य की, हर मन्त्र की, हर पात्र की अपनी सार्थकता है। एक बिन्दुमात्र को भी

इधर-उधर किया नहीं कि सारा सूत्र टूटा नहीं। यजमान-पात्र के अभिनय के अनुरूप वाक्यावली इससे उत्तम हो भी क्या सकती है कि वह समिधा छोड़ने का अभिनय करते समय कहे-हे जात-वेदस्! अयं त इध्म आत्मा। तेन १इध्यस्व, २वर्धस्व, ३इद्ध, ४वर्धय, ५समेध। अतः इस प्रकरण से 'अयं त इध्य आत्मा' मन्त्र हटाना सर्वथा अयुक्त है।

दूसरी युक्ति यह है कि-ब्रह्मचारी ने वेदारम्भ-वेला में प्रथम समिदाधान करते हुए, जिस मन्त्र से अपने संकल्प की घोषणा की थी, उसका संक्षेप भी इसी मंत्र में मिलता है। वेदारम्भ में ब्रह्मचारी ने प्रतिज्ञा की थी-**'इदमग्नये समिधमाहार्षं बृहतेजातवेदसे'** और दैनिक अग्निहोत्र में समिधार्पण के समय कहता है-इदमग्नये जातवेदसे। मानो प्रथम पाठ की दैनिक आवृत्ति हो। इस आवृत्ति की परिसमाप्ति होती है-एक दिन बृहत् जातवेदस् तक पहुँच जाने में, यजमान के स्वयं अग्निरूप हो जाने में। प्रथम दिन वह था, जब-**यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवम् अहं समिन्धे**, और अब नित्य अग्निहोत्र में उसकी प्रतीयमान अनुभूति है-**इध्यस्व, वर्धस्व, इद्ध, वर्धय, समेधय।** वेदारम्भ-वेला में कहा था-**आयुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे।** किन्तु नित्य अग्निहोत्र में उन्हीं मंगलों की समृद्धि चाही है, जिनकी उसे गृहस्थ अथवा अगले आश्रम में आवश्यकता होगी। जिन आवश्यकताओं की प्रथम आश्रम में आवश्यकता होगी। जिन आवश्यकताओं की प्रथम आश्रम में ही पूर्ति हो चुकी थी, उन्हें अब छोड़ दिया और अन्त में समेधय [सम् इति एकीभावे[1] सम्+एधय] क्रिया का प्रयोग करके उन्हें भी पुनः सम्मिलित कर लिया, अर्थात् 'अयं त इध्म आत्मा' को समिदाधान प्रकरण से किसी भी अवस्था में बाहर नहीं किया जा सकता।

समिदाधान में द्वितीय मन्त्र-**समिधाग्निं दुवस्यत**-विधिमन्त्र है

---

१. निरु० १।१

कि जिस अग्नि का आधान किया है, उसे आत्म-अग्नि समझकर उपेक्षा न कर बैठना। वह अतिथि है, अतिथिवत् उसकी पूजा करो, उसका सत्कार करो। अपना सौभाग्य जानो कि रमते राम ने तुम्हारे घर को कृतार्थ किया। देखो, श्रद्धा-अग्नि न रूठ जाय, कहीं यह रूठ गई तो सभी सत्-आचरण भी इस वेदी से अपना आसन उठा लेंगे। सद्-विचार अनायास स्फुरित होते हैं, बस ज्यों ही ये स्फुरित हों, त्यों ही इनकी सेवा में उपस्थित हो जाओ तो बेहतर है, अन्यथा अलख तो ये किसी और के दर पर भी जा लगायेंगे। इसलिए मेरी देह-वेदी के यजमान! समिधा अग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयत, हव्या जुहोतन। जीवन को यज्ञमय बना ले। समिधा ने अग्नि का सेवन करते हुए, घृतों से चेताते हुए, और हवियों से उससे लेन-देन करते हुए, अग्निदेव को अपने हृदयासन पर बिठा ले। देख लेना तेरी हवि में, तेरी पुकार में जितना बल होगा, अग्निदेव तेरे यहाँ उतनी ही अधिक देर डेरा लगायेंगे।

यह मन्त्र विधिवाक्य था। इससे अगला मन्त्र भी इसी प्रक्रिया का भाग है। इन दोनों मन्त्रों के साथ एक समिधा छोड़ी जाएगी। तीव्र घृत की आहुतियाँ डालो। समिधाएँ शुष्क न रहने पायें; अतः 'घृतैबोधयत'-घृतों से चेताओ। घृत भी ऐसा कि जो अग्निदेव को देखते ही बह निकले, फूट पड़े, दीप्तिमान् हो उठे-ज्योति में ज्योतिर्मय होकर जा मिले। परन्तु घृत क्षरणशील तथा तीव्र होना चाहिए, भक्त के हृदय का भक्तिरस भी।

अब तीसरी समिधा को छोड़ने के लिए यजमान 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि' के द्वारा अपने अङ्गभूत 'विश्वेदेवाः' के साथ मिलकर कहता है-'त्वा समिद्भिः वर्धयामसि' हे अग्नि! तुझको हम दीप्ति के साधन, काष्ठ-टुकड़ों को एक जगह करके समिधाओं से बढ़ा रहे हैं।

इस मन्त्र में कतिपय बातें ध्यान देने योग्य हैं-प्रथम तो 'समिद्भिः' में बहुवचन का प्रयोग, क्योंकि यह तीसरी

समिधा है तो बहुवचन का प्रयोग ही उपयुक्त है।

समिधा का सारा समिधापन ही परिसमाप्त हो जाता है। समिधा शब्द में सम् उपसर्ग ही तो उसकी जान है। 'सम्' में ही उसकी सुन्दरता है। इसी सम् में, एकीभाव में 'समिद्भिर्वर्धयामसि' का प्रयोग भी तो इसी बात का सूचक है कि यजामान और विश्वेदेवाः सब एकीभूत हैं। तीसरी बात यह भी है कि वाक्य में अग्नि को जिस सम्बोधन से पुकारा गया है वह स्वयं हवि का काम कर रहा है-'अङ्गिरः'-मेरे अंग-अंग में रस रही यज्ञाग्नि, उत्सर्ग की भावना! सचमुच अग्नि जब तक समिधा के अंग-अंग में, कण-कण में, उसके रोम-रोम में रम नहीं जाता, तब तक वह इध्म 'इध्म' ही रहता है-उसमें एकीभाव नहीं आ पाता एकीभाव तो अग्नि को रोम-रोम में रमा लेने पर ही सम्भव है। तभी इध्म-समिध्म-समिधा बन सकेगा। अतः सभी यज्ञों में विश्वेदेवाः नीयमान जन तभी समिधा बनेंगे जबकि उनमें यजमान के प्रति इतना स्नेहभाव हो कि वे कह उठें-हे अङ्गिर! हे हमारे अंग-अंग में रमे हमारे अग्रणी! हम तुझे समिधाओं से प्रदीप्त कर रहे हैं।

अहा! कितना प्यार भरा है इन शब्दों में! कितना स्नेह भरा है इस सम्बोधन में-अङ्गिरः! यह परम कवि का चमत्कार है। दूसरे समिधार्पण के दोनों मन्त्रों में जिस विधि का निर्देश है, वहाँ तीसरा समिधार्पण उस विधि पर आचरण है। इस प्रकार यजमान प्रथम समिदाधान के समय जो समित्कलाप लेकर आया था, वह इस मन्त्र से पूर्ण हो गया। समिधाएँ चढ़ा दी गईं; समित्कलाप का अपना-आप ही चढ़ा दिया गया तो अब शेष क्या रहा! जब वह अङ्गिरस् ही है, जब सब-कुछ उस प्यारे की भेंट, अंग-अंग उसी को भेंट हो चुका, तो मेरी इच्छा शेष भी अब क्या रह गई-'राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।

इध्म और समिधा

कई लोग यहाँ आक्षेप करते हैं कि समिदाधान के प्रथम

मन्त्र में **समिधा** शब्द तो आया ही नहीं, वहाँ तो इध्म है, मन्त्र का समिदाधान में विनियोग ही ठीक नहीं, इसे हटा देना चाहिए, और अगले तीन मन्त्रों में क्योंकि समिधा शब्द का प्रयोग है, उन्हीं तीन का तीन समिधाओं के छोड़ने में विनियोग उचित है।

समाधान

यह सत्य है कि "अयन्त इध्म आत्मा" मन्त्र में समिधा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। नहीं हुआ यही ठीक है, होना भी न चाहिए था। यहाँ यजमान एक नहीं, तीन-तीन समिधाएँ लिये हुए है। समित्कलाप के लिए जिस शब्द का प्रयोग होना चाहिए, उसी 'इध्म' शब्द का प्रयोग यहाँ भी है। यजमान इकट्ठी तीन समिधाएँ लिये है और अग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए, एक-एक करके उन्हें छोड़ना चाहता है, एक साथ नहीं, कहीं ऐसा न हो एक साथ छोड़ने से अग्नि एकदम बुझ ही जाये।

यजमान के हाथ से अग्नि में छोड़ी गई और अग्नि के साथ एकीभाव को प्राप्त हुई 'इध्म' ही सम्-इध्म, समिधाभाव को प्राप्त होगी।

सारे प्रसङ्ग को यूँ समझिये कि यजमान समित्पाणि होकर आया और उसने अपने हृदयोद्गार इन शब्दों में अभिव्यक्त किये 'अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्'-'हे जातवेद! यह समित्कलाप (इध्मम् किम् समित्कलापम्) तेरा आत्मा है और इससे तू बढ़ और इसे बढ़ा। इससे खुद भी चमक और इसे भी चमका।

और अन्तिम पाँचवीं बात कहता है-समेधय! एधय के साथ सम् उपसर्ग का प्रयोग एकीभाव का द्योतक है, और अग्नि के साथ एकीभाव तो उस समय होगा, जब समिधा यजमान के हाथ से छूटकर अग्नि के अर्पित हो जायेगी। इसीलिए तो इस मन्त्र का समिदाधान में विनियोग उपयुक्त है।

हृदय के उद्गार भी वाणी तक न रहकर क्रिया में आने चाहिएँ। यह समित्कलाप उन्हीं उद्गारों का प्रतीक है। यजमान उन्हें वाणी और पाणि तक ही सीमित न रखकर यज्ञाग्नि की

भेंट कर दे, जिससे कि 'इध्म' समिधा-भाव को प्राप्त हो, अपि च चौथे मन्त्र द्वारा तीसरे समिधार्पण में 'समिद्भिः' बहुवचन का प्रयोग है। जो तीन समिधाएँ (इध्म) पहले यजमान के हाथ में थीं, वही एक-एक करके अङ्गिरा को समर्पित हो गई, अग्निसात् होकर दीप्त होने लगीं, समिधा हो गई। सम्पूर्ण प्रक्रिया में जहाँ अग्निदेव से एकी-भाव है, वहाँ अग्निकुण्ड में भी तीनों का एकीभाव द्रष्टव्य है। वैसे तो यह परस्पर एकीभाव यजमान के हाथ में भी था। परन्तु तब तक एक होकर वे अभी स्वयं दीप्त नहीं हुई थीं- वे इध्म थीं, समिधा नहीं थीं। पुरोहित के मुख से मानो भगवान् का यजमान को आदेश है-

१. समिधाग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयताऽतिथिम् आस्मिन् हव्याजुहोतन।

२. सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्र जुहोतन। और मिलकर कहें

३. तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि-बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा।

उधर यजमान ने भी आदेश का पालन करते हुए, वह तीसरी समिधा भी छोड़ दी, और तीव्र घृत की आहुति देने के लिए चमस् उठाया और पाँच आज्याहुति देने के लिए **'अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्'** का उच्चारण करते हुए घी छोड़ दिया।

गीली, घुनी हुई, बदबूदार लकड़ी इध्म नहीं कहलाती। फिर किसी के हाथों समर्पित हो जाना जहाँ उत्तर-स्थिति है, वहाँ किसी की इच्छा मे समर्पित हो जाना तो और भी उत्तम-अवस्था है। इध्म होना उत्तर-स्थिति है, समिधा हो जाना उत्तम-अवस्था है।

तासामिध्मः प्रथमागामी भवति

विधि है कि समिधा से अग्नि को सेवित करो, घृत से उसे चेताओ और हवि द्वारा उसके साथ दानादान का व्यवहार स्थापित करो।

समिधा, घृत और हवि की एकसूत्रता

समिधा, घृत और हवि-आपाततः तीनों ही हवि हैं, तीनों का समर्पण अग्नि के लिए ही होता है तथा तीनों ही अग्नि के लिए हवन की जाती हैं। प्रश्न उठता है-फिर 'समिधाग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयत, हव्या जुहोतन' में तीनों को पृथक्-पथक् क्यों गिना गया? उधर संवत्सर में भी पुनः-वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म शरद् हविः' कहकर इनके पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। इससे प्रतीत होता है-

१. **समित्** वह साधन है, जिससे अग्नि का सेवन किया जाये, उपलब्धि की जाये, बिना समिधा के अग्नि की उपलब्धि असम्भव है। रगड़ से चिंगारी पैदा होगी, परन्तु उसको लेनेवाली इध्म भी तो चाहिए! इसीलिए माचिस की सलाई में जहाँ ज्वलनशील पदार्थ रहता है, वहाँ तिनके की शक्ल में समिधा साथ लगी रहती है। जहाँ रगड़ लगी कि समिधा-तिनके ने अग्नि को पकड़ लिया। इसीलिए कहा 'तासामिध्मः प्रथमागामी'-उनमें इध्म का प्रथम स्थान है। बिना इध्म के अग्नि की उपलब्धि असम्भव है, अतः 'समिधाग्निं दुवस्यत'।

२. **घृतैर्बोधयत**-उपलब्ध की हुई अग्नि को घृत से चेताओ। इसीलिए अग्नि के मन्द होते ही कहा जाता है कि ज़रा घी छोड़िए-घृतैर्बोधयत-भई, घी से चेताओ!

३. **हव्या जुहोतन**-समिधा से उपलब्ध, घृत से सुसमिद्ध अग्नि में हवि छोड़ो, जिससे दानादान-क्रिया चले। हवि को हवि कहते ही इसलिए हैं कि जो दी जाती है लेने के लिए, और ली जाती है देने के लिए। देना है लेने के लिए और लेना है देने के लिए-दान-आदान-हव्या जुहोतन।

पुनश्च-वैसे तो अग्निदेव को समर्पित की गई प्रत्येक वस्तु भस्म हो जाती है परन्तु उसे भस्म करने से पहले अग्निदेव उसका जो भाग हमें लौटा देते हैं, वह हुआ हवि। फिर 'हवि' शब्द की व्युत्पत्ति भी आदानार्थ 'हु' धातु से मानी जाती है,

जिसका अर्थ है 'हवि'। 'हवि' वह पदार्थ है जो दिया जाता है लेने के लिए, जो लिया जाता है देने के लिए। कोई भी सुगन्धित द्रव्य अपनी सुगन्धि सीमित परिधि तक फैलाना है, परन्तु वही द्रव्य जब अग्नि की हवि बन जाता है, तो उसकी सुगन्ध सहस्रगुणित होकर स्वयं दाता को प्रतिनिवर्तित हो आती है। बस, जो देने पर लौट आए वह पदार्थ हवि है।

अग्निदेव प्रत्येक पदार्थ के समिधा, आज्य और हवि रूप को प्रकट कर देते हैं तथा यजमान और विश्वेदेवाः को प्रत्यावर्तित कर देते हैं। पदार्थ का स्तेनभाव अग्नि के आते ही भाग जाता है। उसकी चोरी छुपी नहीं रहती। स्वार्थभाव जाता रहता है।

चन्दन की लकड़ी का गन्धांश हवि, उसका स्नेहांश रसांश घृत, उसका रूपांश समिधा है। इसी प्रकार गौ-घृत का गन्धांश हवि, स्नेहांश आज्य, पार्थिवांश समिधा। सत्य तो यह है कि पृथिवी का प्रत्येक पदार्थ अपने में समिधा, आज्य और हवि है। वस्तुमात्र में गन्धांश-पार्थिवांश हवि, सोमांश-स्नेहांश घृत और रूपांश-आग्नेयांश समित् है।

अन्यच्च-इस प्रकार हवि वह तत्त्व है जो दिया जाकर पुनः सहस्रगुणित होकर लौटा आए। चन्दन की लकड़ी ने मानो पृथिवी का गन्ध चुरा रक्खा था, उसे आँच देने की कसर थी। जहाँ आँच दी गई कि उसकी वह चोरी जाती रही, अदान-भाव जाता रहा, वह अब अ-राति न रहा, कंजूस न रहा; दान किया और सुदाता बन गया।

बीज में उसका समिदाज्य हविरूप छुपा हुआ था-मानो उसने चुरा रक्खा था कि किसान ने उसे धरती में डाल दिया-उसके समिधांश ने गल-सड़कर अंकुर का रूप धारण किया, फिर वही मूल, डाल, छाल के रूप में प्रकट हो गया। बीज का स्नेहांश मूल से फूल तक व्याप गया और उसका गन्धांश फूलों के मिष से मानो उसे ही वापस मिल गया! और

अन्त में, वह बीज भी अपने असली रूप में सहस्रगुणित होकर किसान को ही लौट आया। यह बीज का समिदाज्यहविरूप हुआ।

'संवत्सर' यज्ञ है। द्यौ के बृहत् कुण्ड में सूर्याग्नि निरन्तर जल रही है। पृथिवी ने जल को उसमें हवि बनाया। यह हवि वाष्प होकर आकाश में इकट्ठी होती रही। पृथिवी ने अपना सर्वस्व दाँव पर रख दिया और स्वयं नीरस हो गई। यह दान, आदान के लिए था, देना लेने के लिए था। सूर्य ने भी इसे सहस्रगुणित करके उस पर जल वर्षा दिया। साथ ही इस जल का जो भाग पर्वत-शिखरों पर जम गया, मलाईरूप उस 'शर' से शरद् का जन्म हुआ, अथवा शरद् ने उस 'शर' को जन्म दिया। वर्षा के अभाव में किसान ने इसका आह्वान किया। सूर्य ने प्रत्युच्छ्वसित हो इसे पिघलाकर बहा दिया। किसान के खेत फिर हरे-भरे हो गए, अन्यथा-धरती की फसलें कैसे परिपाक को प्राप्त होतीं? यह सब शरद् की कृपा थी। इसीलिए कहा-**'शरद् हविः'**।

ग्रीष्म ऋतु में किसान ने भूमि जोत दी। लूएँ चलीं। भूमि शुष्क समिधा बनी। वर्षा ने उसमें आज्याहुति जोड़ी। बीज अंकुरित हुए। वर्षा की समाप्ति पर धान की बालियों पर दूध के अगणित कटोरे भरे हुए थे। मानो किसान को अगणित चमस् उसका आज्य अभिनिवर्तित कर रहे थे।

अब शरद् की बारी आई-दूध से मलाई! शरद् का अवतरण क्या हुआ, मानो दुध जम गया, मानो पृथिवी हर पौधे के रूप (मुट्ठी) में हवि ले रही थी और अपने पुत्रों को आमंत्रित कर रही थी-अपनी-अपनी मुट्ठी भर लो, अपनी-अपनी झोली भर लो! अथवा उसकी मुट्ठी-भर बालें आई देख सभी पृथिवी-पुत्र पुकार रहे थे कि माँ, हमें भी दे, हमें भी दे! बस, यह दानादान-क्रिया चलने लगी। इसीलिए कहा-संवत्सर-यज्ञ में **वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः।**[१]

१. यजु० ३१।१४

इस प्रकार समिधा पर अनेक पहलुओं से विचार करने के पश्चात् अब घृत-तत्त्व पर विचार करते हैं।

घृत भी एक पात्र है-

यज्ञ क्या है? यज्ञ का उद्देश्य क्या है? यज्ञ के आवश्यक तत्त्व क्या हैं? देवपूजा, संगतिकरण और दान परस्पर कैसे आबद्ध हैं? तत्त्व-त्रय के अभिनयार्थ अग्नि, समिधा और आज्य क्यों आवश्यक हैं? कुण्ड में आधान की गई अग्नि किसका उपलक्षण है? अग्न्याधान का क्या प्रयोजन है? आहित अग्नि के लिए इध्म प्रथमागामी क्यों है? इध्म और समिधा में क्या अन्तर है? समिधा में प्रयुक्त 'सम्' उपसर्ग का क्या महत्त्व है?-इत्यादि प्रश्नों का विवेचन हो लिया।

अब, इसके पश्चात् अग्नि को प्रबुद्ध कैसे रक्खा जाये, चेतित कैसे किया जाये जिससे कि एक बार आहित-अग्नि-इध्म द्वारा इद्धअग्नि, घृत द्वारा समिद्ध अग्नि, और हवि द्वारा सुसमिद्धअग्नि हो जाये, जिससे समर्पणकर्त्ता जन स्वयं आकर्षित हुए चले आये और अपनी आत्मा को इध्म बनाने में गौरव अनुभव करें?

अग्नि को प्रबुद्ध करने के लिए, चेताए रखने के लिए, सुसमिद्ध बनाने के लिए जिस साधन की आवश्यकता होती है, उसका नाम घृत है, आज्य है, समिधा जहाँ अग्नि को इद्ध रखने के लिए प्रथम साधन है, वहाँ घृत अग्नि को निर्धूम रखने के लिए द्वितीय साधन है। समिधा अग्नि को दीप्त करती है, वह अग्नि की देह है, अग्नि की जिह्वा है, तो घृत वह साधन है जो समित्-देह में प्राणों का संचार करता है-उसकी साँस, उसकी जान-समित् जिह्वा का अद्भुत रस।

'घृ' क्षरणदीप्तयोः

समिधा वह तत्त्व है जो दीप्ति का साधन तो है, परन्तु स्वयं दीप्तिमान् नहीं; अग्नि के सम्पर्क से वह दीप्त होती है; परन्तु घृत वह तत्त्व है जो स्वयं दीप्त है और अन्य वस्तुओं को भी

दीप्त करता है।

घृत को स्नेह कहते हैं। उसमें स्नेह गुण होता है। स्नेह एक ऐसा गुण है, जो क्षरण पैदा करता है।-दो हृदयों को क्षरित करके एक कर देता है। स्नेह का व्यापार आरम्भ हुआ नहीं कि आँखों से अविरल अश्रुधारा बह निकली। मैत्री-यज्ञ में दीक्षित दो व्यक्ति चक्षु-कटोरों में घृत भर लाए, विश्वतोधार यज्ञ आरम्भ हो गया! छोटे-से इस अक्षय पात्र में घृत का इतना भण्डार है कि चुकने का काम ही नही। विश्वतोधार यज्ञ में दीक्षित संन्यासी के पास इस आहुति के सिवाय और है भी क्या? उसके पास घी कहाँ? कटोरे के लिए पैसे कहाँ? उसकी आँखें ही वे अक्षयपात्र हैं कि जिनमें स्नेह का अखूट भण्डार है, अविरल धारा है, प्राणिमात्र के प्रति उमड़ पड़ा उसका हृदय अपनी सीमाएँ तोड़कर बह निकला है। विश्वभर से मैत्रीभाव स्थापित कर लिया, अपने-पराये का भेद जाता रहा। आवश्यकता होती है तो बस एक बात की कि हृदय की स्रोतस्विता सतत बनी रहे, बस, भला इससे भी अधिक कोई मूल्यवान् वस्तु होगी? यदि इसकी आहुति दीन-हीन दरिद्रों की श्रद्धाग्नियों में पड़नी आरम्भ हो गई, तो फिर मानो एक अखण्ड विश्वतोधार यज्ञ का समारम्भ हो गया। यह घृत की आहुति अब अनन्त अग्नियों में स्वीकार की जायेगी। इस क्षरण की, इस घृत की, इस स्नेह की बूँद-बूँद हवि है। जहाँ भी वह जा गिरी, वहीं मानो एक अश्वमेध यज्ञ का सूत्रपात हो गया। **यद्वैतदश्रुसंक्षरितमासीदेषसोऽश्वः**[१]। **प्रजापतेर् अक्ष्यश्वयत्तदपतत्तदश्वोऽभवत्तदश्वस्याश्वत्वम् तद्देवा अश्वमेधेन प्रत्यदधुः**[२]। संन्यासी प्रजापति है, उसकी आँखें डबडबा आईं। वे छलक गईं। उनकी आहुति लोक-हृदय में गिरी, लोकहृदय छलक उठा, अश्रु विश्वतोधार बहने लगे। इससे अश्व की उत्पत्ति हुई, क्षत्र की उत्पत्ति हुई। हाथ उठे और बहते

१. शत० ६।३।१।२८

२. तै० सं० ५।३।१२।१; तां० २१।४।२

आँसुओं को पोछने चल दिये, अश्वमेध यज्ञ का समारम्भ हो गया। कहते हैं एक अग्निहोत्र सहस्र अश्वमेध यज्ञों का समारम्भ हो गया। कहते हैं एक अग्निहोत्र सहस्र अश्वमेधों के तुल्य होता है, सो तेरी वाणी में भी घृत, तेरी आँखों में भी घृत-**'चक्षुर्वै घृतम्'**, और उसी का प्रकट रूप तेरा अश्रु, उसे ही ले आ। एक अश्रु से किया यज्ञ सहस्रों अश्वमेधों को जन्म देगा, वह तेरा महायज्ञ होगा। इस विश्वतोधार यज्ञ को करके ही तू आदित्य अवस्था पा सकेगा-**यज्ञं ये विश्वतोधार सुविद्वांसो वितेनिरे**[१]-**स्वर्यन्तोनापेक्षन्त।**

घृत जहाँ दोनों ओर के क्षरण का कारण है, वहाँ वह दोनों ओर की दीप्ति का कारण भी है। किसी मुरझाए चेहरे को निहारिये जिस पर उदासी-ही-उदासी छाई हुई है, प्रसन्नता का नाम नहीं, सर्वथा कुम्हलाया हुआ, परन्तु स्नेह का ज़रा प्रदर्शन हुआ नहीं कि चेहरे की सारी मुर्दनी जाती रही, वह खिल उठा-उस पर जलाल आ गया, दीप्ति आ गई, मानो उसे प्राण मिल गए। अब देखिये दोनों मित्रों के चेहरे! दोनों ओर की कान्ति फूटी पड़ रही है-आँखों में चमक, होंठों पर ललक, गालों पर दमक और दाँतों पर हँसी। यह सब स्नेह का कमाल है। रग-रग में चेतना है, बोध है, स्फूर्ति है।

यदि बोध जाता रहा, तो स्नेह नहीं, घृत नहीं । सोम न रहा, सुरा बन गया। इसलिए जहाँ कहा कि **'समिधा अग्निं दुवस्यत'** वहाँ यह भी कहा कि **'घृतैर् बोधयत'**। कुण्ड-मुख की दीप्ति इतनी फैली कि वेदी के बाहर निकल आई।

यजमान ने समिधा डाली। कहीं गीली रह गई थी, धुआँ देने लगी थी, अग्नि मन्द पड़ गई थी, उसके चेहरे की मुस्कान प्रायः समाप्त हो गई थी। सब ओर धुआँ-ही-धुआँ छाने लगा था। पुरोहित ने कहा-**घृतैर् बोधयत**। और यजमान ने एक चमस्भर घृत छोड़ा कि चट से अग्नि प्रचण्ड हो उठी, फिर से दीप्त हो

१. अथर्व० ४।१४।४

गई, सूखी की तो कथा ही क्या! यह गीली समिधा भी जल उठी! स्नेह का यही तो कमाल है। इसीलिए तो कहा-**अतिस्नेहाभिष्वङ्गात् वर्तिरादापि दह्यते।** स्नेह की आहुति, घृत की आहुति, सोम की आहुति का कमाल है-**अग्नीषोमीय जगत्**[१]। समिधा आग्नेय है। घृत सौम्य है। इसके साथ ही घृत में दोनों धर्म हैं-क्षरण भी, दीप्ति भी।

कैसे भी जमा हुआ घी हो, परन्तु क्षरित होना उसका धर्म है। उठाकर जिह्वा पर रख लीजिये, बस दोनों ओर से क्षरण आरम्भ हो गया, घृत भी पिघल गया और जीभ भी पिघल गई।

एक बिन्दुभर घृत हाथों की रगड़ से इतना फैला कि सारे मुख-मण्डल पर छा गया, सारे मुख-मण्डल पर दीप्ति आ गई। अब जहाँ यह सत्य है कि घृत का क्षरण और दीप्ति अग्नि के कारण है, जैसा कि शतपथ में कहा भी है-**'आग्नेयं वै घृतम्'**[२], वहाँ यह भी सत्य है कि अग्नि में यह क्षरण और दीप्ति घृत के कारण है; जैसे ही घृताहुति पड़ी, अग्नि भड़की, फैली, चमकी, **एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद् घृतम्**[३]। ऊपर के वाक्य में यदि 'अग्नि' और 'घृत' के स्थान पर 'श्रद्धा' और 'सत्य' रख लिया जाये तो यज्ञ का वास्तविक रूप सहज सामने आ जाए-**एतद्वा श्रद्धायाः प्रियं धाम यत् सत्यम्। श्रद्धा अग्निः**[४] **सत्यमाज्यम्।** सत्य, श्रद्धा को विकसित करने का, निर्धूम करने का, संशयरहित करने का एकमात्र साधन है। सत्य वह घृत है कि जो स्वयं भी फैलता है, श्रद्धा को भी फैलाता है, स्वयं चमकता है और श्रद्धा को भी चमकाता है। इसीलिए कहा-घृतैर् बोधयत! सत्येन बोधयत!

पुनश्च-

घृत के क्षरण और दीप्ति, दोनों ही अर्थ एक-दूसरे पर अंकुश का काम करते हैं। क्षरण ऐसा हो कि दीप्ति बढ़ती

१. रामपूर्वतापिनी उप० २४
२. शत० ७।१।८।१४; ९।२।२।३
३. तै० १।१।६१।६; १४।४।४
४. शत० ११।३।१।१

जाय-जैसे-जैसे स्नेह का क्षसरण हो, वैसे-ही-वैसे दीप्ति भी बढ़े, फैले, संकुचित न होने पावे, और दीप्ति इस बात की कसौटी हो कि क्षरण कहीं मर्यादा को लाँघ न जाये। अतः जहाँ दीप्ति का ह्रास हो रहा हो और क्षरण जारी हो, समझ लो वहाँ सर्वनाश को निमंत्रण है। वह घृत न रहकर मृत बन जाएगा। जिस क्षरण के साथ दीप्ति की वृद्धि हो, वह यज्ञ का भाग है; वही अग्नि को चेता सकता है, प्रबुद्ध कर सकता है। अग्नि को चेताना, प्रबुद्ध करना ही दीप्ति है, और यह दीप्ति ही अग्नि की सच्ची कसौटी है। यदि दीप्ति कहीं सिमटकर बैठने लगी, मन्द होती-होती शान्त हो गई तो सब-कुछ गया। 'क्षरण' दीप्ति की कसौटी और 'दीप्ति' क्षरण पर अंकुश। वह क्षरण दो कौड़ी का, जिसमें दीप्ति नहीं और उस दीप्ति का क्या मूल्य जिसमें क्षरण नहीं, प्रसरण नहीं! इस प्रकार घृत शब्द में क्षरण और दीप्ति दोनों परस्पर अंकुश हैं।

प्रजनन-यज्ञ में वीर्य घृत है। यदि उसमें क्षरण और दीप्ति साथ-साथ हैं, तो वह घृत है, अमृत है; अन्यथा मृत है, मृत्यु है। जिस वीर्य का दोनों ओर से क्षरण-ही-क्षरण हो, पति-पत्नी में दीप्ति रहे नहीं, तब भला प्रजनन-यज्ञ चले तो कैसे? उसकी दक्षिणा-भूत प्रजा को फिर अवकाश कैसा? इसीलिए वीर्य तभी घृत है, जिसमें क्षरण मर्यादित हो। कुल के प्रत्येक व्यक्ति की दीप्ति और कान्ति में फीकापन न आये और न सर्वथा ही क्षरण तथा प्रसरण ही रुक जाये कि कुल-तन्तु का ही उन्मूलन हो जाये। काम भी घृत है, किन्तु वही काम काम्य है, जिसके क्षरण के साथ कान्ति हो, कामना में कान्ति नहीं तो वह हेय है, कान्तियुक्त कामना ही ग्राह्य है। फिर तो श्रीकृष्ण की भाँति कहा जा सकता है-**'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि'**[१]। **'प्रजननश्चास्मि कन्दर्पः'**[२] धर्मानुकूल काम विहित है।

१. गीता ७।११
२. गीता १०।२८

ब्रह्मचारी का वीर्य-घृत जब उसके हृदय-कुण्ड में प्रदीप्त संकल्पाग्नि में छोड़ा जाता है तभी उसके संकल्प में जान आ जाती है। उसकी दीप्ति ब्रह्मचारी की प्रत्येक चेष्टा में फूट पड़ती है। रग-रग में उसका क्षरण और प्रस्रवण होता है, परन्तु दीप्ति में फीकापन नहीं आता। ब्रह्मचारी के संकल्प में, व्रत में, उसकी चेष्टा में कहीं भी मान्द्य हो तो आचार्य मान लेता है इसके वीर्य का क्षरण संकल्पाग्नि में न होकर कामाग्नि में हो रहा है। महर्षि दयानन्द ने आदित्य ब्रह्मचारी को चेताया है कि-**जो आमरण ब्रह्मचारी रहना चाहे, वह अपने वीर्य को विचार-अग्नि का ईंधन बना दे। यही ब्रह्मचारी का नित्याग्निहोत्र है।**

सत्य ने यदि लोगों में क्षरण पैदा नहीं किया, सुनने वालों को पिघला नहीं दिया, तो वह सत्य ही कैसा? महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक को उत्तर देते हुए कहा था-'पय ही अग्निहोत्र है' फिर वह पय किसी भी गौ का क्यों न हो, किसी भी कक्षा वा क्षेत्र का क्यों न हो। जहाँ भी पय का हवन हो रहा है, वहाँ यज्ञ हो रहा है।

वेदि-पात्र का अवतरण-

इस प्रकार यज्ञ के तत्त्वत्रय रूप देव-पूजा, संगतिकरण और दान का अभिनय करने के लिए अग्नि, समिधा और आज्य-पात्रों की उपलब्धि कर ली गई। अब इनके अभिनय के लिए स्थल-विशेष की नाट्य-शाला की आवश्यकता है, उस स्थल-विशेष को ही याज्ञिक लोग वेदि कहते हैं। अतः यज्ञ के भिन्न-भिन्न उपादेय तत्त्वों का अभिनय करने के लिए आमंत्रित अग्नि, समिधा आज्य, आपः आदि पात्रों को जहाँ स्थान दिया जाएगा, उस वेदि का वर्णन आवश्यक है, अतः वेदि क्या है, इसका नाम वेदि क्यों रक्खा गया है, इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इन सबका वर्णन करते हैं। वेदि को समझ लेने के पश्चात् किस पात्र का स्थान कहाँ है, यह दिखाएँगे।

वेदि का अर्थ है लाभ। ऐसा लाभ, ऐसी उपलब्धि, जहाँ

बैठकर लक्ष्य-प्राप्ति की जाये। अतः याज्ञिकों ने अपने उद्दिष्ट लक्ष्य को स्थल विशेष में पा लिया। इसलिए इस स्थल-विशेष का नाम वेदि हो गया। **"यं यज्ञं वेद्यामन्वविन्दन्स्तस्माद् वेदिर्नाम', 'यद् वेद्यां अन्वविन्दन्स् तद् वेदेर्वेदित्वम्[१]।**

अपि वा, वेदि को वेदि इसलिए भी कहते हैं कि यहाँ विष्णु को पा लिया[२]। इस पा लेने से, वेदन से इसका नाम वेदि पड़ गया।

वेदि

वेदि का अर्थ है लाभ। मनुष्य हर कार्य में सर्वप्रथम लाभ देखता है, अन्य सब-कुछ पीछे। हर वैश्य की दुकान पर जहाँ एक ओर 'शुभम्' लिखा रहता है, वहाँ दूसरी ओर 'लाभम्' भी लिखा रहता है, सम्भवतः उन लोगों को भी यह पता न होगा कि इस लाभ का क्या अर्थ है? उनकी दृष्टि में इसका स्थूल अर्थ सिवाय अर्थ-लाभ के और हो भी क्या सकता है?

याज्ञिकों की दृष्टि में उनके लिए सबसे मुख्य लाभ वेदि है। बिना वेदि-लाभ के उनका काम चल ही नहीं सकता, क्योंकि वेदि यज्ञ का आधार है, विष्णु का आधार होती है। यज्ञ के लिए जिसका सर्वप्रथम लाभ किया गया, उसका नाम वेदि[३] हो गया, अथवा जिस वस्तु से विष्णु का, यज्ञ का लाभ हुआ हो, वह वेदि कहलाई, अर्थात् स्वयं लाभ होने से अथवा यज्ञ का लाभ कराने से वेदि 'वेदि' है।

वामन के नाप की वेदि-

देवों ने वेदि का लाभ कैसे किया? इसका कथानक शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रकार वर्णित है-प्रजापति की दोनों

१. ऐ० ३।७

२. यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दस्तस्माद्वेदिर्नाम।-शत० १।२।५।१०
यद्यदनेव (यज्ञे न विष्णुना) इमां सर्वां (पृथिवीं) समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम। -शत० १।२।५।७

३. विदन्ति जनाः यस्यां यज्ञ सा वेदिः। विदन्ति जनाः यया सर्वं (यज्ञम्) सा वेदिः।

पुत्रियाँ दिति और अदिति की संतानें (दैत्य और आदित्य) आपस में स्पर्धा करने लगीं। जहाँ एक ओर देव खिन्न हुए-से बैठे थे, वहाँ दूसरी ओर असुर सारी ही दुनिया अपनी माने बैठे थे। बोले कि आओ, धरती को आपस में बाँट लें और मौज उड़ायें। उन्होंने बैल के चमड़े को ही नापने का पैमाना बनाया और उसे पूर्व-पश्चिम में बाँटना शुरू कर दिया। देवों ने भी सब सुना और सोचने लगे कि इस तरह अगर सारी धरती बँट गई तो हमारा ठिकाना क्या होगा? चलो, वहीं चलें जहाँ ये असुर धरती बाँट रहे हैं। हम तो कहीं के भी न रहेंगे, यदि इस धरती में हमें कहीं कुछ भाग न मिला। वे समझदार थे, अतः विष्णु को सामने करके चल पड़े। जाकर असुरों से बोले-हमारा भाग हमें दो। असुर कुछ खीजकर बोले कि लो, जितनी भूमि पर तुम्हारा यह भगवान् लेट जाए, उतनी भूमि तुम्हारी। असुरों ने समझा था कि विष्णु तो वामन है, वामन के नाप की भूमि देने में क्या हानि है? देवता मन-ही-मन प्रसन्न थे कि हमें यज्ञ के नाप की भूमि दे दी, तो बहुत दे दी। उन्होंने विष्णु को आगे रखकर उसे छन्दों से घेर लिया और विष्णु को सब ओर से छन्दों से घेरकर वहाँ अग्नि का आधान करने लगे, अर्चना और श्रम करते-करते सारी पृथिवी पर छा गये। उन्होंने यज्ञ-भूमिका विस्तार करते-करते वेदि के द्वारा पृथिवी का लाभ कर लिया। इसलिए कहते हैं कि जितनी वेदि है, उतनी ही पृथिवी है[१]।

वेदि वह स्थान है जिससे सारी पृथिवी का लाभ किया जा सकता है। इस कथानक से निम्न आशय निकलता है-असुर स्वार्थवश अपने लिए सारी पृथिवी को नाप लेना चाहते थे, किन्तु देव अपने लिए नहीं, यज्ञ के लिए, लोकहित के लिए भूमि की माँग करते थे। जहाँ असुर **'स्वं पुरस्कृत्य ईयुः'** थे, वहाँ देव **'विष्णुं पुरस्कृत्य ईयुः'** थे।

१. एतावती वै पृथिवी। यावती वेदिः। तै० ३।२।९।१२
यावती वै वेदिस्तावती पृथिवी॥ शत० ३।७।२।१; जै० उ० १।५।५

विष्णु नाम यज्ञ का है। विष्णु के नाप की भूमि मिलने पर देव प्रसन्न थे कि हमें सब-कुछ मिल गया। असुरों की दृष्टि में विष्णु वामन है, मात्र व्यक्ति विशेष, किन्तु देवों की दृष्टि में वह यज्ञ की भावना है=समाज का अविकसित रूप। असुर समझते थे कि यह वामन कितनी भूमि घेरेगा, बड़ी मुश्किल से बालिश्तभर, किन्तु देव जानते थे कि जब यह वामन पूर्ण विकास को प्राप्त होगा, तो पूर्ण त्रिलोकी को नाप लेगा।

देव और असुर में यही मौलिक अन्तर होता है। यही अन्तर एक को 'देव' और एक को 'असुर' संज्ञा प्रदान करता है। एक की दृष्टि में स्वहित है, तो दूसरे की दृष्टि मे समाज-हित।

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो गई-प्रथम यह कि देवों ने विष्णु के नाप से जिस भू-भाग का लाभ किया, उसका नाम 'वेदि' है, और द्वितीय यह कि जिस भू-भाग पर बैठकर विष्णु को पा लिया, उस भू-भाग का नाम 'वेदि' है। विष्णु से प्राप्त की गई भूमि 'वेदि' है, और विष्णु को प्राप्त कराने वाली भूमि भी 'वेदि'। दोनों में यही अन्तर है कि प्राप्त कराते समय विष्णु, वामन-रूप में होते हैं, प्राप्त कर लेने पर वामन (त्रिलोकी-व्याप्त) विष्णु-रूप हो जाते हैं। इस प्रकार वेदि का लाभ कराते समय वामन-रूप, वेदि से लाभ होते समय विष्णु-रूप!

जहाँ-जहाँ वामन लेटे हुए हैं वहाँ-वहाँ वेदि है, और जहाँ-जहाँ उन्होंने तीन डग भरकर त्रिलोकी को नाप लिया, वहाँ-वहाँ विष्णु। बस, वेदि को समझने के लिए प्रत्येक वस्तु के वामन और विष्णु-रूप को समझना होगा। तद्‌यथा-

(१) प्रत्येक वस्तु के संक्षिप्त रूप को वामन और विकसित रूप को विष्णु कहते हैं।
(२) एक ही वस्तु के दो छोर वामन और विष्णु हैं।
(३) **अधियज्ञ** में अग्नि वामन है, तो सूर्य विष्णु हैं।
(४) **अधि-आत्म** में संकल्प वामन है, तो सत्य विष्णु है।

(५) **अधिदैव** में प्रातः उदित सूर्य वामन है तो मध्याह्नोत्तर त्रिलोकी-व्याप्त सूर्य विष्णु है।

(६) **अधिभूत** में परमाणु वामन है, तो ब्रह्माण्ड विष्णु है।

(७) **अधिप्रज** में वीर्यबिन्दु वामन है, तो बालक विष्णु है।

(८) **अधिविद्य** में ब्रह्मचारी वामन है, तो स्नातक विष्णु है।

(९) **अधिवानस्पत्य** में बीज वामन है, तो वृक्ष विष्णु है।

(१०) **ज्यामिति** में केन्द्रबिन्दु वामन है, तो त्रिकोण विष्णु है।

(११) **अधिसांख्य** में शून्य वामन है, तो नव अंक विष्णु है।

(१२) **अधि-आश्रम** में ब्रह्मचारी वामन है, तो संन्यासी विष्णु है।

(१३) **अधिवर्ण** में शूद्र वामन है, तो ब्राह्मण विष्णु है।

(१४) **अधिशब्द** में प्रणव वामन हे, तो वेद विष्णु है।

(१५) **अधिवाक्** में परा वामन है, तो वैखरी विष्णु है।

इस प्रकार वामन और विष्णु की अनन्त कक्षाएँ हैं, जितनी कक्षाओं में वामन और विष्णु का प्रत्यक्ष किया जा सके, उतनी ही वेदियाँ। जहाँ भी वामन को लेटने के लिए स्थान मिल जायेगा, उसी की संज्ञा वेदि हो जायेगी। भौतिक अग्नि को जिस भू-भाग पर आश्रय मिलेगा, उसी का नाम वेदि हो जायेगा। संकल्प-वामन को जिस हृदय में निवास मिल जायेगा, उस हृदय का नाम वेदि होगा। प्रातः उदित सूर्य-वामन को जिस दिशा में निवास मिल जायेगा, उस दिशा का नाम वेदि होगा। परमाणु-वामन को जिस आकाश में निवास मिल जायेगा, तो उस आकाश का नाम वेदि होगा। वीर्य-वामन को जिस कुक्षि में स्थान मिल जाएगा, तो उस कुक्षि का नाम वेदि होगा। शरीर की समस्त दिव्य शक्तियों के सारभूत सिमटकर बैठे हुए वीर्य-बिन्दु वामन को बालक विष्णु का लाभ करने के निमित्त माता के उदर में स्थान मिल जायेगा, तो मातृ-उदर का नाम वेदि हो जाएगा। बालक-वामन को आचार्य-कुल में निवास मिल जायेगा तो आचार्यकुल का नाम वेदि हो जायेगा। समाज-वामन को जिस

भू-भाग पर निवास मिल जायेगा, उस भू-भाग व राज्य का नाम वेदि हो जायेगा। वटबीज-वामन को जिस भू-भाग पर गर्भित होने के लिए स्थान मिल जायेगा, बस वही भू-भाग वेदि हो जायेगा। केन्द्र-बिन्दु को पत्र पर जहाँ भी टिकने का स्थान मिल जायेगा, बस वही स्थल वेदि कहलायेगा। शूद्र-वामन को जहाँ भी निवास के लिए स्थान मिल जायेगा, वही भू-भाग वेदि कहलाएगा। ब्रह्मचारी वामन है, आचार्य विष्णु है। अथवा ब्रह्म की तलाश में निरत ब्रह्मचारी स्वस्ति-पथ के मार्ग-दर्शन दो ही तो हैं-सूर्य और चन्द्र-'सूर्याचन्द्रमसाविव'-आज मैं आदित्य हूँ, तू चन्द्र है। कल दीक्षायुक्त होकर जब तू संसार में उतरेगा, तब लोग तुझे आदित्य मानकर, तुझे अपना आदर्श मानकर तेरी परिक्रमा करेंगे। गुरुकुल में यह तेरा वास अग्नि से आदित्य बनने की दीक्षा है। आचार्य और आदित्य तो बस, तुम्हारे हृदय में छुपी श्रद्धाग्नि को बाहर उभार लाने के लिए प्रासंगिक निमित्त हैं। आओ! हम दोनों मिलकर उस चिंगारी को आदित्य-अवस्था तक ले आये। यह अग्नि को आदित्य में विकसित करने की एक सतत साधना है-'अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिः' की प्रातः-सायं आवृत्ति, वामन से विष्णु होने के संकल्प की नित्य नियमित आवृत्ति-एक जीवन-राग, एक तराना।

यज्ञ-कुण्ड

इस युग के कल्पसूत्रकार महर्षि दयानन्द ने इस पाठ के अनुरूप एक पात्र निर्माण किया, जिसे यज्ञ-कुण्ड के नाम से सभी जानते हैं, जिसे नाट्यशाला के बीचों-बीच केन्द्र में ला रक्खा। ठीक ही तो किया! जिसका अनुकरण करना है, उसे सामने ही रक्खा जाता हैं

इस कुण्ड के निर्माण में कितना कौशल है! कुण्ड नीचे से चतुर्थांश है, तो ऊपर से चतुर्गुणा, नीचे से चतुर्थांश होना किसी वस्तु की संकोचावस्था का द्योतक है, उसकी वामनावस्था का परिचायक है, उसका धीरे-धीरे विकसित होकर पूर्णता को

पहुँचना, उसकी विकास-अवस्था का, सूर्यावस्था का, '**तद्विष्णोः परमं पदम्**'[१] का परिचायक होता है। कुण्ड नीचे से वामन रूप में आरम्भ होकर, ऊपर पहुँचते-पहुँचते विष्णु बन गया हो।

यज्ञ-कुण्ड प्रकृत्या उद्भिद् होता है-'**आ नः भद्रा क्रतवो यन्तु उद्भिदः**'[२]। हमारे जीवन, हमारे यज्ञ उद्भिद् हों, बीज के समान क्षण-क्षण प्रस्फुटित होते हुए, सतत् ऊर्ध्वमुख, सूर्यमुखी, उन्मुख। ब्रह्मचर्य के चतुर्थांश में, मूल भाग में तीन भाग और मिल जायें तभी तो वह पूर्णता को पहुँच सकेगा, वामन विष्णु बन सकेगा। यही कुछ है वामन का तीन डग उठाना।

यज्ञ की परिभाषा में 'ऐ मेरे हृदय-कुण्ड मे प्रसुप्त श्रद्धाग्नि वामन! उठ, तीन डग उठा, मेरी त्रिलोकी पर छा जा! मेरे स्थूल-पार्थिव बाह्य करण, इन्द्रियजगत् पर तेरा राज्य हो, मेरे अन्तःकरण पर-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार पर तेरा राज्य हो। मेरे आत्मिक जगत् पर तेरा राज्य हो। तू मेरी पूर्ण त्रिलोकी का स्वामी बन जा, विष्णु बन जा।

अग्नि से सूर्य अथवा वामन से विष्णु यज्ञ-कुण्ड पर बनी तीन सीढ़ियाँ वामन के तीन चरण रखने के लिए, उसके 'त्रिधा चङ्क्रमण' के लिए मानो सतत सम्मुख तीन प्रेरणा-पद हैं।

एक वार्तालाप और तीन सीढ़ियों का स्पष्टीकरण

आर्यसमाज मेरठ सदर में श्रावणी सप्ताह के उपलक्ष्य में यजुर्वेद-पारायण-यज्ञ चल रहा था। यह सन्' ५५ की बात है। पूर्णाहुति के दिन मैंने समापन-भाषण दिया। मैं नियम से प्रतिदिन यज्ञोपरान्त यज्ञ-विषयक भाषण देता था। पूर्णाहुति के दिन समापन करना ही था। वह सब-कुछ हुआ। समाप्ति पर जब शान्तिपाठ हो चुका और सब चले गये, तब एक वृद्ध सज्जन आए और कहने लगे कि 'आचार्य जी! सचमुच इस सप्ताह

१. यजुर्वेद ६।५; ऋग्वेद १।२२।२०
२. ऋग्वेद १।८९।१

आपके यज्ञ-सम्बन्धी प्रवचनों ने हमारी आँखें खोल दीं, हम अब तक अँधेरे में थे। हमें यज्ञ-सम्बन्धी कुछ भी तो जानकारी नहीं थी। आपने बहुत-कुछ बताया। सब प्रक्रियाओं और विधियों की हृदयहारी व्याख्या की, परन्तु एक बात पर आपने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला कि कुण्ड के चारों ओर ये तीन सीढ़ियाँ क्यों बनाई जाती हैं? ये किसका प्रतीक हैं? ये तीन-तीन अंगुल चौड़ी सीढ़ियाँ भी क्या किसी मञ्ज़िल तक पहुँचाने का साधन हैं? यदि नहीं तो क्यों? कृपया मुझे स्पष्टतया समझाइये।

मैंने कहा यज्ञ एक प्रतीकात्मक वस्तु है। वहाँ हर पदार्थ किसी आदर्श का प्रतीक है। सीढ़ियाँ भी किसी आदर्श भावना का प्रतीक हैं। फिर छोटी बनी हों, अथवा बड़ी, प्रतीक जो हुई। बस यह भी आगे बढ़ने की सूचना दे रही हैं, बढ़े चलो! उस समय तक, जब तक कि अपने को अग्नि में न बिठा दो। वेद ने आर्य का लक्षण करते हुए कहा है: **'आर्या ज्योतिरग्राः'**[१]-आर्य का लक्ष्य ज्योति है। उसका ध्येयधाम ज्योति है, प्रकाश है, सूर्य है, अग्नि है-**'सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्'**[२]।

अग्नि संन्यास का प्रतीक है।

संन्यासी वह है जो अपने ध्येय की सिद्धि कर चुका है। इस बात की साक्षी उसके वस्त्र हैं। उसके वस्त्रों का रंग वही है, जो यज्ञ-कुण्ड से उठती हुई ज्वालाओं का है। सर्वतोधार यज्ञ में दीक्षित हुए संन्यासी के वस्त्रों का रंग वही तो होना चाहिए, जो प्रकृति में नित्य हो रहे सर्वतोधार यज्ञ के प्रवर्तक आदित्य का वर्ण है। स्वयं वेद भगवान् ने संन्यासी के वर्ण की घोषणा **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'**[३] कहकर की है। केवल उसका वर्ण ही आदित्य नहीं, प्रत्युत उसका आचरण भी आदित्य है। जिस प्रकार आदित्य किसी सीमा में आबद्ध नहीं रहता, ऐसे ही

१. ऋग्वेद ७।३३।७ २. ऋग्वेद १।५०।१०
३. यजु० ३१।१८

संन्यासी किसी भी देश-काल की सीमा में आबद्ध नहीं रहता। इसीलिए संन्यासी पर से अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड का प्रतिबन्ध हटा लिया जाता है, क्योंकि वह स्वयं मूर्त्त यज्ञ, चलती-फिरती आग, एक ज्वाला, एक ज्योति है-**'आर्या ज्योतिरग्राः'**।

आर्य का तीर्थस्थल-

आर्य का तीर्थ-स्थान यज्ञ है। हिन्दू तो पानी में डुबकी लगाता है, परन्तु आर्य वह है जो अग्नि में डुबकी लगाता है। समिधा ने अग्नि में डुबकी लगाई कि अग्नि ने पुत्र को अपनी गोद में लेते हुए, उसे अपने ही वस्त्रों से ढक लिया। संन्यासी है ही वह जिसे अग्नि ने अपने वस्त्र पहना दिये हैं, अपना चोगा उढ़ा दिया। अब उसे कोई छू नहीं सकता। वह भी अग्नि की भाँति ज्वलन्त है। उसकी तो स्पष्ट घोषणा है कि 'मुझे न छूना! नाहक में अपनी अंगुलियाँ फुँकवा लोगे। मैं अब साधारण समिधा नहीं हूँ कि जो चाहे जहाँ पटको, जी चाहे जहाँ रक्खो। अब तो मैं अग्निमय हो गया हूँ। मुझे छूना अपने हाथ जलाना है। ऐ काम! ऐ क्रोध! ऐ लोभ! ऐ अहंकार! मुझसे बचकर निकलना, मुझे न छूना, नाहक में हाथ फुँकवा लोगे। मेरा क्या बिगड़ेगा! तुम्हारे हाथ जलेंगे। बचना, बचकर चलना! मेरा ताप ही तुम्हें भस्म कर देगा। मेरा नाम काम-दहन है।

तीन सीढ़ियाँ तीन आश्रमों का प्रतीक हैं-

इस प्रकार जब आपने जान लिया कि कुण्ड के मध्य की अग्नि संन्यास का प्रतीक है, तब अग्निकुण्ड पर बनी चारों ओर की तीन-तीन सीढ़ियाँ-तीनों आश्रमों का प्रतीक हुईं। प्रथम सीढ़ी ब्रह्मचर्याश्रम का प्रतीक हुई, दूसरी सीढ़ी गृहस्थ का, तीसरी वानप्रस्थ का। कुण्ड की अन्तर-अग्नि तो है ही मूर्त्त संन्यास। आर्य-जीवन में संन्यास-आश्रम परा सीमा है-इन्सान की ज़िदगी की आखिरी मंज़िल। वह उसका ध्येयधाम है। संन्यासी होने का अर्थ है, सर्वमेध-यज्ञ करना, अग्निमय हो जाना, साक्षात् आदित्य हो जाना।

जिस प्रकार आदित्य अखण्ड, अबाध, अविच्छिन्न प्रकाश-रश्मियाँ फैलाता है, तद्वत् संन्यासी भी प्राणिमात्र के लिए ज्ञानरश्मियाँ फैलाता है, सत्यार्थ-प्रकाश करता है। जैसे आदित्य किसी देश-विदेश की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता, तथैव संन्यासी भी सीमातीत होकर एकाकी विचरण करता है-'सूर्य एकाकी चरति'। सूर्य का व्रत यदि संसार का उपकार करना है, तो संन्यासी का व्रत भी संसार का उपकार करना ही है। परिवार की चिन्ताओं से ऊपर उठकर 'अब' प्राणिमात्र की चिन्ताओं को अपना लेता है। आर्यसमाज के मूर्धन्य मनीषी विद्वान् श्री पं० चमूपति जी ने शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी के हृदय में उठती हुई संन्यास की भावनाओं को इस प्रकार चित्रित किया है : शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी समझता है कि-

है संन्यास क्या? गम में औरों के गलना,
पराई चिता पर पड़े आप जलना।।
कदम तेग़ की धार पर धर के चलना,
न हरगिज़ मचलना, न हरगिज़ फिसलना।।
इधर तोड़ना बंद सब खानमाँ के,
उधर बाप बन जाना सारे जहाँ के।।
किया जिसने संन्यास का रुत्वा आला,
दयानन्द स्वामी तेरा बोल बाला।।

किन्तु सारे जहाँ का बाप बनने के लिए उसे अपने बेटे-पोतों तक का ममत्व छोड़ना होगा। अब वह यह कभी नहीं कहेगा कि **'भार्या मे, पुत्रो मे, स्वजनो मे, धनपशू मे, बन्धुवर्गो मे'** क्योंकि एवं **'मे मे' कुर्वाणं पशुमिव बध्नाति नियतं कालः।** क्या वह अब भी 'मे-मे' और 'मम-मम' का ही जाप करता रहेगा। इसके लिए तो बकरा पशु ही पर्याप्त है, वही 'मे-मे' क्या कम करता है?

संन्यासी का जीवन तो अब -'इदं न मम' हो गया। प्राणिमात्र की सम्पत्ति हो गया। उसका श्वास-श्वास, रोम-रोम जनता-जनार्दन

की सेवा में काम आ रहा है। वह प्राणिमात्र का मित्र और सब उसके मित्र-**"वसुधैव कुटुम्बकम्"।**

इस प्रकार मानव-जीवन का लक्ष्य यदि संन्यास है, तो उस तक पहुँचने के लिए वामन (ब्रह्मचारी) को पहले ये तीन पग उठाने ही होंगे। उसी की प्रतीकभूत ये तीन सीढ़ियाँ हैं। संन्यास जीवन का अन्तिम धाम है। व्यास के शब्दों में-

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
यां हि निःश्रेणीमारुह्य ब्रह्मलोके महीयते।।

- महाभारत शान्तिपर्व २०१४

स्व-लोक से स्वर्लोक तक-

चारों वेदों में कहीं न संन्यास शब्द है, न आश्रम। वेद में किसी भी 'स्थिति' को 'लोक' शब्द से प्रस्तुत किया जाता है। यदि किसी ने ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर ली है, तो कहेंगे **"ब्रह्मलोके महीयते"**। यदि कोई ऐश्वर्यवान् है, तो कहेंगे इन्द्रलोक का वासी है। यहाँ तक कि विवाहोपरान्त, कन्या को पितृगृह से पतिगृह जाना हो तो कहेंगे **'पितृलोकात् पतिलोकं गमेयम्'।**

इसी प्रकार वैदिक परिभाषा में 'आनन्दलोक का वासी' है-**स एवायं आनन्दं लब्ध्वा आनन्दी भवति।** इसी दृष्टि से कदाचित् संन्यासी के नाम में 'आनन्द' शब्द जोड़ देने की प्रथा है जो इस बात का प्रतीक है कि संन्यासी का लोक आनन्दलोक है।

संन्यास शब्द का अर्थ मोह-माया को सर्वथा त्याग देना है-**सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन स संन्यासः यः तद्वान् स संन्यासी।** संन्यासी शब्द में **सम्यक् न्यास** का भाव विद्यमान है। परन्तु उसने पाना क्या है? यह बात अर्थापत्ति से जानी जा सकती है। जब सांसारिक सुख-दुःख का न्यास किया, तो किसी वस्तु का व्यास भी अवश्य होना चाहिए, उसी को 'आनन्द' कहते हैं। जिसका न्यास किया वह प्रकृति के गुण थे, जिसका

व्यास करना है, वह परमात्मा का, ज्येष्ठ ब्रह्म का गुण है-स्वः। सांसारिक सुख-दुःख का न्यास और आनन्द गुण का व्यास। इसी आनन्द गुण को, जो ज्येष्ठ ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है, वैदिकी लोक-व्यवस्था में 'स्वः' संज्ञा दी गई है। कहा है-**स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।** केवल 'स्वः' ज्येष्ठ ब्रह्म का स्वाभाविक धर्म है। उस केवल ब्रह्म को प्राप्त करके जीव भी केवली हो जाता है उसका धाम कैवल्य धाम, आनन्दधाम अथवा स्वर्धाम हो जाता है, अतः इस विवेचन से स्पष्ट हुआ कि संन्यास का धाम स्वर्धाम तथा संन्यासी का लोक स्वर्लोक।

जीवन-क्रम में अपने-आपमें लीन ब्रह्मचारी **स्वस्थ** है। परिजनों, बन्धु-बान्धवों से घिरा हुआ व्यक्ति **गृहस्थ** हैं तरुमूल में निवास करने वाला मुनि **वनस्थ** है और सर्वस्व-त्यागी संन्यासी आनन्द में स्थित **स्वःस्थ** है। यदि कुण्ड की अन्तर-अग्नि संन्यासी का प्रतीक है, तो वैदिकी लोक-व्यवस्था में वही स्वर्लोक है। कुण्ड पर तीन सीढ़ियाँ यदि क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का प्रतीक हैं, तो वहीं तीनों सीढ़ियाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का भी प्रतीक हैं। वामन-बटुक इसी क्रम से पदार्पण करता हुआ कहता है-

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहम्। अन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ।।

-यजुर्वेद १७।६७

-कि मैंने जो ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश किया है, वह मेरा पृथिवी-लोक पर पदार्पण है। मेरा गृहस्थाश्रम में प्रवेश अन्तरिक्ष लोक का पदार्पण है। मेरा वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश द्युलोक पर पदार्पण है और अन्तिम संन्यासाश्रम में प्रवेश करना स्वर्लोक पर पदार्पण है। स्व से स्वः की प्राप्ति है। खुदी से खुदा की उपलब्धि है।

अग्नि से आदित्य

कुण्ड के चारों ओर बनी तीन-तीन सीढ़ियाँ वामन-व्यक्ति

के विष्णु बनने के निमित्त, तीन डग भरने की परिचायक हैं। वैदिक आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य से संन्यस्त होने की, वैदिकी लोक-व्यवस्था में भू-लोक से स्वर्लोक प्राप्ति की, और वैदिकी यज्ञ-व्यवस्था में अग्नि से आदित्य बनने की परिचायक हैं। जैसे ब्रह्मचर्य से संन्यासी होने के लिए क्रमशः तीन चरण ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के उठाने होते हैं, जिस प्रकार भूलोक से स्वर्लोक की प्राप्ति के लिए तीन चरण भू, अन्तरिक्ष और द्यु के उठाने होते हैं, वैसे ही अग्नि से आदित्य बनने के लिए भी क्रमशः तीन चरण अग्नि, वसु, रुद्र के उठाने होते हैं, जिसकी सूचना कुण्ड पर बनी तीन सीढ़ियाँ दे रही हैं। व्यक्ति ने प्रथम चरण ब्रह्मचर्याश्रम का क्या उठाया कि वह **अग्नि** बन गया। उसने दूसरा चरण गृहस्थाश्रम का क्या उठाया कि वह **वसु** बन गया और तीसरा चरण वानप्रस्थ का क्या उठाया कि वह रुद्र बन गया। बस, अब उसने आदित्य बनने के लिए कुण्ड के बीच बैठने का निश्चय किया और कहा-**इदमग्नये स्वाहा, इदमग्नये। इदं न मम।** लो, वह लालोलाल हो गया। आदित्यवर्ण संन्यासी ने विश्वतोधार यज्ञ आरम्भ कर दिया है।

मानव-जीवन का लक्ष्य जहाँ आश्रम-परिभाषानुसार क्रमशः ब्रह्मचर्य से संन्यास में प्रविष्ट होना है, वैदिकी लोक-व्यवस्था में पृथिवी-लोक से स्वर्लोक को अधिगत करना है, वहाँ याज्ञिकों की परिभाषा में मानव का चरम ध्येय अग्नि से आदित्य बनना है।

वेदिमञ्च पर अग्निदेव का अभिनय-

यह अग्नि-नाम भौतिक पदार्थ के लिए ऐसा रूढ़ हो गया है कि बहुत कठिनाई से समझाया जा सकता है कि अग्नि का अर्थ भौतिक वह्नि के अतिरिक्त कुछ और भी होता है। आचार्य यास्क 'निरुक्त' में इस शब्द का निर्वचन करते हुए लिखते हैं-**'अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवतीति'**[१]-अग्नि को अग्नि इसलिए

१. निरुक्त ७।४

कहते हैं कि वह आगे ले चलता है, हमें ध्येय तक पहुँचा देता है।

अँधेरे में हमारा पथ-प्रदर्शक कौन होता है-यही अग्नि ही तो! यही वह्नि (टॉर्च) ही तो-**वहति च नयति च**। अन्धे अपनी लाठी के सहारे या फिर किसी छठी इन्द्रिय की बदौलत ही घर पहुँच जाते हैं। यह लाठी, यह बुद्धि उनकी अग्नि हुई। बूढ़े की लाठी होता है उसका पोता। वेद में अग्नि का एक रूप शिशु भी है। प्रज्ञाचक्षुजनों की आत्माग्नि प्रबल होती है। अबोध बालक का नयन उसका आचार्य होता है, उसका कुलगुरु होता है, कुलपति होता है। प्रजा का पथ-प्रदर्शक अग्नि-प्रजापति, राष्ट्रपति, सम्राट् और परिव्राट् संन्यासी होता है। इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रों में सेनापति, राजदूत, निशापति और दिवापति की स्थिति होती है। स्वानुभव हमें कितनी ही अग्नियों को इस छोटे-से पिण्ड में प्रत्यक्ष करा देता है। 'शब्दवेधी' शब्द से दिशा का ज्ञान पा लेता है- **'अग्निर् वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'**[१]। वर्णों में ब्राह्मण को मुख का स्थान दिया जाता है। नेता होने के नाते वह राष्ट्रात्मा की आवाज़ होता है-**'अनन्ता वै अग्नयः'**[२]।

प्रत्येक अग्नि के दो छोर होते हैं-चक्षु एक और लक्ष्य दूसरा। अग्नि यदि इन दोनों छोरों तक व्यापक न बन जाये, तो कोई भी नीयमान अपने उद्दिष्ट लक्ष्य तक कभी भी पहुँच न पाये। अग्नि के इस व्यापक रूप को यदि हम आत्-इति-अ=आदित्य संज्ञा दे दें तो कोई आपत्ति न होगी। वस्तुतः अग्नि प्रकाश का एक जादू ही तो है। आदित्य की प्रकाश-रश्मियाँ हमारी नयन-रश्मियों के सम्पर्क में आकर दृश्य-जगत् को प्रत्यक्ष करा देती हैं। प्रकाश, ताप और समर्पण अग्नि के धर्म हैं। धर्म अपने धर्मी से जुदा नहीं रह सकता। इन तीनों में से एक के भी अभाव में अग्नि का अस्तित्व समाप्त हो

---

१. ऐतरेयोपनिषत् २।४
२. गर्भोपनिषत् ५

जायेगा। प्रकाश और ताप इसके समर्पण पर निर्भर हैं। इसके समर्पण का भी क्या कमाल है कि अन्तिम क्षण तक अपने (समिधा) शरीर का अणु-अणु कटाकर भी प्रकाश और ताप की रक्षा करता है। अपने शरीर को भस्म बनाकर भी नीयमान को लक्ष्य तक पहुँचाने की चिन्ता करता है। बस, यही तीनों तत्त्व प्रत्येक अग्रणी (अग्नि) में होने अनिवार्य हैं। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि 'अग्नि' शब्द केवल आग का ही वाचक नहीं, अपितु प्रत्येक उस व्यक्ति का वाचक है जो अपने नीयमान को उसके लक्ष्य तक पहुँचा रहा है। इस स्थापना को प्रमाणित करने के लिए शतपथ का एक कथानक उपस्थित करते हैं-

अग्नि ही अमर है-

कहते हैं कि देव और असुर दोनों में बहुत स्पर्धा चली। वे दोनों अनात्मज्ञ थे, मरणधर्मा थे। अनात्मज्ञ होना ही मरणधर्मा होना है। उन देव और असुर दोनों में अग्नि ही अमृत था। उसी के आश्रित वे अमृतत्व का उपभोग कर रहे थे। सो जो इसे मार देता है, वह भी स्वयं मर जाता है। एक समय आया कि देव अत्यल्प संख्या में रह गये। उन्होंने सोचा कि अर्चना और श्रम करते हुए अपने प्रतिद्वन्द्वी असुरों का पराभव करें। उन्हें सूझा कि क्यों न इस अग्नि को अपने अन्तरात्मा में आधान करके स्वयं अमर हो जाये और शत्रुओं को पराजित कर दें। उनमें से कुछ बोले कि यह अग्नि तो देव और असुर दोनों में ही तुल्य हैं यदि कहीं असुरों ने भी इसे आधान कर लिया तो कौन-किसको अभिभव कर सकेगा? देव बोले कि असुरों को इस रहस्य का ज्ञान ही नहीं कि किसी अग्नि को अन्तरात्मा में भी आधान किया जाता है। यदि विश्वास न हो तो उनसे चलकर पूछ लें। यही किया गया। ज्यों ही असुरों से जाकर पूछा कि तुम अग्नि का क्या करोगे? असुर बोले कि क्या करेंगे? उसे काबू में लाकर कहेंगे कि चलो लकड़ी जलाओ, चावल पकाओ, मांस

पकाओ। असुरों ने जिस अग्नि का आधान किया था, उससे मनुष्य अपना भोजन पकाते हैं। देवों को इस रहस्य का पता लगना था कि उन्होंने अग्नि को अन्तरात्मा में आधान कर लिया, अपने प्रतिद्वन्द्वी असुरों को दबा लिया। बस, जो भी इस रहस्य को जानकर अमृत-अग्नि को अपने अन्तरात्मा में आहित कर लेता है, वह अमर हो जाता है। इसके सिवाय अमर होने का अन्य उपाय नहीं। मर्त्य से अमृत होने का यही मार्ग है। आहिताग्नि और अनाहिताग्नि के इस मौलिक भेद को अभी आधुनिक विज्ञान ने भी स्वगत करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि भोजन पकाने वाली आग चूल्हे में आहित की जाती है, जबकि असुरों का अभिभव करने वाली अमृत-अग्नि हृदय-कुण्ड में आहित की जाती है। बस, उसी का नाम श्रद्धा, दीक्षा, संकल्प अथवा व्रताग्नि है।

मनुष्य-शरीर में अनन्त अग्नियाँ

इस शरीर को शरीर इसलिए कहते हैं कि इसमें अग्नियाँ आश्रय पाती हैं-**'अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते'**[१]-ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि, कोष्ठाग्नि। मनुष्य-द्वारा खाए, पिए, चूसे हुए पदार्थों को पचाने वाली शक्ति का नाम **कोष्ठाग्नि** है। रूपों का दर्शन कराने वाली शक्ति का नाम **दर्शनाग्नि** है। शुभाशुभ कर्मों का लाभ कराने वाली शक्ति का नाम **ज्ञानाग्नि** है। इसी प्रकार आहवनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि, नाम तीन-तीन अग्नियाँ और भी आश्रय पाए हुए हैं, जिनके स्थान क्रमशः मुख, उदर और हृदय हैं-**'मुखे आहवनीयं, उदरे गार्हपत्यो, हृदि दक्षिणाग्निः।**[२]

आहवनीयाग्नि का स्थान मुख-

प्रथम स्थान मुख का है जो आहवनीय अग्नि का आगार है, जहाँ रस का दानादान होता है-रसना रस लेती भी है और पदार्थ में लार-रूप रस देती भी है। इन्द्रियदेवों का 'हविर्धान' हमारा

१. गर्भोपनिषत् ५
२. गर्भोपनिषत् ५

मुख ही तो है! मुखाग्नि हव्यवाहन है, देवदूत है, इन्द्रिय का मुख है, सुख-दु:ख की मूर्त्तवाणी है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में उसे 'कवि ' कहा गया है, सो यूँ ही नहीं।

गार्हपत्याग्नि का स्थान उदर-

उदर में जठराग्नि अथवा गार्हपत्याग्नि का निवास है। उसे गार्हपत्याग्नि 'कविर् गृहपतिर्' समझना चाहिए। जिस जगह भोज्य, पेय, लेह्य और चोष्य पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं, वह गार्हपत्यागार है और उस वेदि में सतत जल रही अग्नि गार्हपत्याग्नि है। सभी इन्द्रियाँ अपना भाग रसनेन्द्रिय द्वारा जठराग्नि तक पहुँचाती हैं। यही कुछ रूपक-दृष्टि से 'देवों' इन्द्रियों द्वारा गार्हपत्याग्नि में हवन है, हविदान है।

दक्षिणाग्नि का स्थान हृदय-

दक्षिणाग्नि का निवास हृदय में है। आहवनीय और गार्हपत्याग्नि को समृद्ध करना इसी के हाथ में है। इसी को हम व्रताग्नि, दीक्षाग्नि भी कह सकते हैं, क्योंकि दक्षिणा के, समृद्धि के पूर्वरूप दो ही तो होते हैं-व्रत और दीक्षा-**'दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्'**[१] तथा व्रत, दीक्षा और दक्षिणा का आधार होता है 'हृदय'।

पति-पत्नी के हृदय में आहवन, परस्परार्पण की भावना का उदय, बिना दक्षिगाग्नि के कैसे हो सकता है?-**'मम व्रते ते हृदयं दधामि'** यह व्रत, आहवनीय ही गार्हपत्य का आधार है। कक्षान्तर में यही बात गुरु-शिष्य में घटती है।

प्रयुज्, मनस्, तपस्, पूषन्-

दो मित्रों, दो राष्ट्रों में भी वही परस्पर भावना ही है, जो हवि के दानादान द्वारा जनजीवन को वहन किये है। हमारे शरीर में इन तीन अग्नियों के अतिरिक्त-प्रयुज्, मनस्, तपस् और पूषन् आदि कितनी ही अग्नियाँ आश्रय पाई हुई हैं।

कभी-कभी हम आकूति, अनुमान के भरोसे कदम उठा लेते

---

१. यजुर्वेद १९।३०

हैं, जो हमे झकझोरकर कह रहा होता है कि इस काम को कर डालो, रुको नहीं! यह प्रयुज्य अग्नि है-**'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा।'**[१]।

जहाँ विचारों का संगम होता है, उसका नाम मेधा है। जिसके बल से मानसिक विचार मेधा का रूप धारण कर लेते हैं, उसे ही मनस् अग्नि कहते हैं। आकूति का जन्म मेधा से होता है और मेधा का जन्म दीक्षा से होता है, और इस दीक्षा को, दृढ़ निश्चय को, बल मिलता है तपस् अग्नि द्वारा, द्वन्द्वसहन की शक्ति अन्तर्बल द्वारा प्राप्त होती है, उसी अन्तर्बल का नाम सरस्वती है। सरस्वती का प्रवाह बिना पूषन् अग्नि के असम्भव है।

आकूति के लिए मेधा की आवश्यकता है, मेधा के लिए दीक्षा की आवश्यकता है और दीक्षा के लिए सरस्वती की, और इन सभी को क्रमशः प्रदीप्त रखने वाली प्रयुज्, मनस्, और पूषन् अग्नियों की आवश्यकता है। ये सभी अग्नियाँ शरीर में आश्रय पाती हैं।

वामन से विष्णु [अधि-विद्य]

राष्ट्र का गर्भभूत बालक आचार्य के पास उपनयनार्थ समित्पाणि होकर आया, तो आचार्य ने पूछा-**कस्य ब्रह्मचारी असि?** इस पर बालक ने सरलता से उत्तर दिया-**भवतः** (आपका)। तब आचार्य ने समझाते हुए कहा कि तू **'इन्द्रस्य ब्रह्मचारी असि'**-इन्द्र-ऐश्वर्यवान् परमात्मदेव का, अथवा तत्प्रतिनिधिभूत राष्ट्रपति का ब्रह्मचारी है और तेरा-**अग्निर् आचार्यस्तव अहमाचार्यस्तव**-तुझे तेरे लक्ष्य तक पहुँचाने के निमित्त परमाग्रणी भगवान् अथवा तत्प्रतिनिधिभूत सब अग्नियों का एकोपलक्षणभूत तेरा अपना संकल्प ही तेरा प्रथम आचार्य है और संकल्प को मूर्त्तरूप देने का साधनमात्र होने से मैं आचार्य हूँ।

---

१. यजु० ४।७

सविता का ब्रह्मचारी-

इससे पूर्व सूर्यावलोकन-विधि में आचार्य ब्रह्मचारी को सवितादेव के सामने खड़ा कर कहता है-**'देव सवितर् एष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय स मामृतम्'**[१]-हे देवसवित:! सर्वप्रथम यह बालक तेरा ब्रह्मचारी है, यह धरोहर तेरे सुपुर्द है, देखना रक्षा करना! यह मरे नहीं! फिर सूर्य की ओर ब्रह्मचारी को इंगित करते हुए **'तच्चक्षुर्देवहितम्'** मन्त्र के साथ उसे दिव्यचक्षु की ओर देखने को कहा जाता है कि देखो, सूर्य वह परमशक्ति है, जिसकी परिक्रमा में यह ग्रह-मण्डल एक व्यवस्था में चल रहा है।

यह हमारा गुरुकुल भी एक छोटा-सा सौर मण्डल है, आचार्य जिसका सविता है और ब्रह्मचारीवर्ग जिसके ग्रहोपग्रह। 'ब्रह्म' की चर्या, परिक्रमा, तुम्हारा लक्ष्य है। आचार्य-अग्नि की परिक्रमा उसमें तुम्हारा प्रथम पग है, मात्र एक अनुकृति है। इस नाट्यशाला में की गई परिक्रमा तो मात्र एक प्रतीक है-इस बात का बोध कराने के लिए कि तू ब्रह्म की तलाश में निकला है-उस राह में कुछेक कदमों तक मैं (तेरा आचार्य) तेरा अग्रणी हूँ। कदाचित् मैं भी पथभ्रष्ट हो सकता हूँ, किन्तु तू अपने हृदय-कुण्ड में जल रही श्रद्धाग्नि को आदर्श मानना, अथवा सौरमण्डल में उदित उस सूर्य को, ये दो आदित्य तुझ आदित्य ब्रह्मचारी के परमादर्श होंगे, नित्य आचार्य होंगे-कभी न बुझनेवाले दो दीपक होंगे। तेरे हृदय की अग्नि वामन है, ब्रह्माण्ड में उदित सूर्य वा तद्गुणयुक्त दयानन्द-सरीखा कोई आदित्य-ब्रह्मचारी हमारे-तुम्हारे लिए विष्णु है। हृदय में प्रदीप्त श्रद्धाग्नि तेरे मस्तिष्क पर, तेरी ज्ञानेन्द्रियों पर, तेरी वाणी पर छा जाये तो तुझे कहना होगा कि मेरे द्युलोक को श्रद्धाग्नि ने नाप लिया। मेरी आँखें अब वही-कुछ देखती हैं, जोकि मेरा संकल्प है। कान वही-कुछ सुनते हैं, जो मेरा संकल्प है। मेरी वाणी वही-कुछ

१. आश्वलायन० १।२०।६, संस्कारविधि, उपनयन प्रकरण

उच्चारण करती है, जो मेरा संकल्प है। हाथ वही-कुछ करते हैं, जो मेरा संकल्प है। और तो और, मेरे हृदय की धड़कन से मेरा संकल्प ही मुखरित होता है। मेरे कदम-कदम से मेरा संकल्प ही प्रकट होता है। मेरी सारी दुनियाँ पर 'संकल्प' ही आदित्य बनकर छा गया है।

अग्नि का एकत्रीकरण-

वेदारम्भ की वेला में आचार्य ब्रह्मचारी से कहता है कि आओ, वेदिस्थ अग्नि को **'अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु'**[१] मंत्र द्वारा एकत्र करो, जिसका एकमात्र आशय यह होता है कि ब्रह्मचारी अपने सभी विचार-स्फुल्लिंगों को-जो उसकी हृदय-वेदि में फूट रहे होते हैं, बिखरे पड़े होते हैं, उनमें एकरूपता देने के लिए संहत करना आरम्भ कर दे। उन्हें एक अजस्र, किन्तु मर्यादित स्रोतश्रवस् नहीं, सुश्रवस् बनने की साधना इसी क्षण से आरम्भ कर दे। पत्पश्चात् हृदयस्थ अग्नि को लक्षित कर कहलवाते हैं **'ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि'**[२]-जिस प्रकार यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त अग्ने! तू देवों के भौतिक यज्ञरूप निधि का रक्षक है, वैसे ही मैं अपने हृदय-कुण्ड में प्रदीप्त श्रद्धाग्नि की कृपा से **'मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासभ्'** मनुष्यों के ज्ञाननिधि वेद का रक्षक बन सकूँ। इसके अनन्तर यज्ञ-कुण्ड की प्रदक्षिणा होती है, मानो हृदय-कुण्ड में जल रही व्रताग्नि की परिक्रमा होती हो।

तत्पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख होकर वेदि की अग्नि में दोनों हाथों को तपाकर उन्हें सात मन्त्रों से सात बार मुँह पर फेरता है। तू ही मेरी अंगरक्षक है, मुझे वर्चस् और आयु देने वाली है। स्पष्ट ही सम्मुख यज्ञ-कुण्ड में प्रदीप्त अग्नि आत्म-अग्नि की त्रिधा प्रतीक है-'तनूपा' जठराग्नि की, गार्हपत्याग्नि की, 'आयुर्दा' प्राणाग्नि की, आहवनीयाग्नि की, गार्हपत्याग्नि की;

१. पारस्कर गृह० २।४।२
२. पारस्कर गृह० २।४।२

'आयुर्दा' प्राणाग्नि की, आहवनीयाग्नि की, और 'वर्चोदा' संकल्पाग्नि की, दक्षिणाग्नि की। हाथों को तपाना अपने कृत और फल को संकल्प की आँच देना है। जिस पुरुषार्थ पर ब्रह्मचारी के संकल्प की छाप न हो, वह फलोपलब्धि नहीं कराता और जिस फल पर ब्रह्मचारी के संकल्प की मुहर न हो, वह फल लेने योग्य नहीं। संकल्प की आँच से तृप्त, कृत और विजय ही, पुरुषार्थ और फल, वर्चस् अर्थात् दीप्ति और तेज दे सकते हैं। उससे भिन्न कृत और फल ही इनके हरने वाले हो जाते हैं। इसलिए ब्रह्मचारी अपने दोनों हाथों को-कृत और फल को-**'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'**[१] अग्नि पर तपाता है। न केवल अग्नि पर तपाता ही है, अपितु जल का, सोम का, स्पर्श भी करता है जो शान्ति का प्रतीक है। ब्रह्मचारी का पुरुषार्थ और फल, जहाँ अग्नि से तपा हुआ हो, वहाँ उसे सोम का, जल का आतञ्चन भी मिला हो, जल की-सी शान्ति, स्वच्छता और नम्रता भी हो-चेहरे की दीप्ति और वर्चस् सोम से स्निग्ध होकर दुगुना हो जाये। ब्रह्मचारी के मुखादित्य पर अद्‌भुत छटा होनी चाहिये। मन्त्रों में इस कर्म को भी स्वयं अग्नि की भाँति त्रित् ही प्रस्तुत किया गया है-**'मयि मेधां मयि प्रजां मयि अग्निस्तेजो दधातु।'**[२]

बालाग्नि का यह बीज दीक्षान्त में जब वटु से वट का रूप धारण कर लेता है, राष्ट्र-यज्ञ में राष्ट्र-मुख ब्राह्मण के मिष से आहवनीय बनकर, राष्ट्र-उदर वैश्य के मिष से गार्हपत्याग्नि बनकर और राष्ट्र-हृदय क्षत्रिय के मिष से दक्षिणाग्नि बनकर बस जाता है, तो मानो राष्ट्र की त्रिलोकी-पृथिवी, द्यु और अन्तरिक्ष लोक में व्यापने से विष्णु-पद का भागी बनता है। तब कहीं हमें अनुभव होता है कि वह चिंगारी नहीं, एक सूर्य था, वामन नहीं, विष्णु था।

---

१. अथर्व० ७।५०।८
२. आश्वलायन गृह्० १।२१।४

आचार्य का वरण-

आचार्य का भी वरण होता है-ठीक उसी प्रकार, जैसे कोई युवति **'ब्रह्मचर्येण विन्दते युवानं पतिम्'**[१] वरण करती है। वृञ् वरणे आच्छादने-वर वह, जो सर्वथा कन्या के अन्तर्लोक पर व्याप सके। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश का अर्थ भी यही होता है कि ब्रह्मचर्य से अविच्छिन्न फूटते स्फुल्लिङ्गों को कहीं मर्यादा मिल गई है, एक उचित वेदि मिल गई है, किसी के तन, मन और हृदय की समिधाएँ मिल गई हैं।

आचार्याग्नि में भी हवि पड़ती है, बाल-समिधा ही। समय आने पर एक पूर्ण युवा में वही पुनः गार्हपत्य के रूप में निखर आती है। व्रती की व्रत-पूर्ति में चहुँ ओर से-उसकी वरेण्य मुद्रा से खिंची आ रही दक्षिणाएँ पड़ती हैं और वह स्वयं आहवनीय बन जाता है। परम्परा टूटने नहीं पाती-एक सूर्य अस्त होता है, किन्तु कितने तारों-नक्षत्रों को, अदिति-पुत्रों को, अपने पीछे छोड़कर ही तो।

प्रजनन यज्ञ-

अब समय आता है-हमारे आदित्य के लिए स्वयं हवि बनकर पत्नी में आत्माहुत होने का, अपने अणु-अणु को, संचित ज्ञान-विज्ञान को, अपनी अदम्य भावनाओं को-अपने सर्वस्व को-पत्नी-रूपी वेदि में होत्र कर देने का। **'स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः'**[२] में धुआँ अधिक था, किन्तु **'रेतो वा आज्यम्'**[३] वीर्य से स्निग्ध धुआँ, जिसके वहन करने के लिए एक 'वह+धू' नित्य उसके साथ है, वधू जो स्त्री-सुलभ सौम्य वृत्ति द्वारा उसे वह्नि में, गृहस्थ के उत्तरदायित्वों की धुरी को उठाने में समर्थ एक वृषयुगल में, परिणत कर देगी। गृहस्थ का युगल सदा एक द्यावापृथिवी का, सत्य और श्रद्धा का, वेदि और आज्य का

१. अथर्व० ११।५।१८
२. अथर्व० ११।५।२६
३. शतपथ० १।९।२।७

युगल होता है। ऐसी है अधिप्रज यज्ञ की महिमा, जो आत्मा को अविनश्वर कर देती है-शिशुरूप में, आत्मज रूप में, सतत् रहकर वह लुप्त नहीं हो पाती। सूर्य मानो एक रात-भर के लिए चन्द्र बन गया हो, या फिर विष्णु को पुनः वामन बनने की सूझी हो।

किन्तु **'पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**[१]-वामन ने अभी तीन डग भरने हैं; किसी भी क्षण उसका मूड आ सकता है। यज्ञ-वेदि को कदाचित् इसलिए **'आनो भद्राः क्रतवो यन्तु उद्भिदः'**[२] 'एक से चार' होने की दिशा में एक खिलते फूल का रूप देने की परम्परा है कि उसमें पड़ी अग्नि चतुर्दिक् व्यापिनी बन जाये, चार आश्रमों की पूर्णता व छाया में क्षण-भर विश्राम पाती हुई, ध्रुवा होती हुई, ऊर्ध्वमुख हो जाये। **'तमसः-परि.....उत्-उत्तरं. ...अगन्म ज्योतिरुत्तमम्'**[३]। तदनुसार देह-वेदि पर तीन लघु अग्नियों का आधान करते हुए, उसने यज्ञ को त्रिवृत् कर दिया और शरीर को एक छोटी-सी त्रिलोकी-उदर 'भूलोक' में गार्हपत्याग्नि की, हृदय (अन्तरिक्ष) में दक्षिणाग्नि की, मस्तिष्क (द्युलोक) में आहवनीयअग्नि की स्थापना की।

यज्ञ के तृतीय चरण में-देवपुरी में अवतीर्ण देवों ने अपने-अपने आज्यभाग को एकरूप करते हुए उसमें 'रेतस्', 'प्राण', 'सत्य' की एक व्यामिश्र आहुति डाली।

त्रिवृत्-यज्ञ की प्रथमाहुति भी त्रिवृत् थी। उसमें नाभि, हृदय और मूर्धा तीनों लोकों का सर्वस्व संचित था, या यूँ कह लें कि त्रिपाद् विष्णु संक्षिप्त था, मनुष्य का जातीय संकल्प आहित था। त्रिलोकी साधाना में त्रिर्-अग्नि त्रिर्-आज्य की आहुति। रेतस् का क्षेत्र आधिभौतिक है, किन्तु वह प्राणमय को, आधिदैविक को स्पर्श करता है; प्राण उसी प्रकार बुद्धि अथवा अध्यात्म को

---

१. यजुर्वेद ३१।४

२. ऋग्वेद १।८९।१

३. अथर्व० ७।५३।७

अछूता नहीं रहने देता। और मनोमय तो हुआ ही-'कुत्रायं न संचरति'। तीनों आज्य 'पूर्वःपूर्वः परस्मिन् आहूतः सन्' एक हो गये।

ब्रह्मचारी के रेतस्-आज्य में प्राण-आज्य और सत्य-आज्य अन्तर्निहित हैं! उस प्राण-आज्य में रेतस्-आज्य और सत्य-आज्य की पुट होती है। उसके सत्य-आज्य में प्राण-आज्य और रेतस्-आज्य की भावना होती है। किन्तु, दीक्षान्त से प्रतिनिवृत्त होकर भी 'पुरुष पूरयितव्यो भवति'-अभी खुद में कुछ कसर महसूस करता था। सो, देवों ने स्त्री की रचना की-**'अर्धो वा एष आत्मनो यत् जाया'**[१]। अब स्त्री ही वेदि बन गई- **'योषा वै वेदिः'**[२]। गृहस्थाश्रम, सूर्य को पृथिवी पर उतारने के लिए इस प्रकार दूसरी सीढ़ी बन गया और आत्मज का मुख-अपना ही अक्स प्रत्यक्ष देखने की हवस को अवकाश मिल गया। स्त्री जब वेदि बन गई, पुरुष ने उसमें वामन बनकर प्रवेश पाया; उसमें स्त्री का भाग आ मिलने के साथ वह पुनर्विष्णु बनने लगा-**ऊर्ध्वमुदैत्।**

पुरुष वह शक्ति है, जो आत्ममेध द्वारा विष्णु को वामन में परिवर्तित कर सकती है, और स्त्री प्रकृति की वह शक्ति है जो वामन को पुनः विष्णुरूप देती हुई, विष्णुतर कर सकती है। पत्नी वामन को विष्णुरूप देती हुई, विष्णुतर कर सकती है। पत्नी वामन को विष्णु बनाकर पति की गोद में ला रखती है। यह है परिवार में द्युलोक के राज्य का अवतरण! अब यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि व्यक्ति ने ब्रह्माण्ड की जिन दिव्य शक्तियों को अपने शरीर में उतारा था, उन्हीं को पत्नी के माध्यम से परिवार में उतार लिया। किन्तु यह तो हुआ-पुत्रजन्म के साथ-एक ही घर में विष्णु का, द्युलोक का अवतरण। पुत्र सर्वथा माता-पिता का अंशानुरूपी हुआ करता है-दो देवगणों

---

१. शत० ५।२।१।१०

२. शत० १।३।३।८

की दुहरी साधना का एक फल।

परिवार की इस सिद्धि को राष्ट्र-व्यापी करने के लिए अब राष्ट्र-पिता, आचार्य-माता के निकट पहुँचते हैं। गुरुकुल की त्रिरग्नि में-उदर, हृदय, नाभि-प्रदेश में-क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण का निर्माण होता है और राष्ट्र के चौमुखे विकास की नींव पड़ती है। यह राष्ट्र-पुरुष वर्ण-वर्ण का समुदय होने के कारण **'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'**[१]। किन्तु अपने तई वह भी अधूरा है, जब तक उसमें वैश्वानर-भावना का अभ्युदय नहीं हो आता। वैसे तो विष्णुरूप को भी अभी सर्वभूतात्म होना है। अपने-आपमें कुछ भी पूर्ण नहीं है। वैश्य भोजनतत्त्व जुटाता है, क्षत्रिय उन्हें शारीरिक बल में परिवर्तित कर देता है, ब्राह्मण उसी को पुनः आत्म-बल में बदलता है-**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**[२]।

यह सब व्यवस्था-यह तीन अंगों में परिसमाप्त यज्ञ, एक क्षण में ही छिन्न-भिन्न हो जाये, यदि शूद्र का मूक मौन आत्ममेध, बिना किसी प्रकार की प्रतिदान की कामना के, इन तीनों को आधार-भूमि न जुटा दे; किन्तु अभी तक अग्न्याधान हुआ है, एक चिंगारी हाथ लगी है, वह समिधा माँगती है। इसीलिए अग्न्याधान के पश्चात् समिदाधान का क्रम है। अग्नि आहित हो ली, अब उसे प्राणवान्, सुरक्षित कैसे रक्खा जाये, क्योंकि वह तो **'जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानां**[३]-उसमें निरन्तर हवि देनी होगी। अपने स्थूल शरीर की, अपने सूक्ष्म शरीर की, अपने कारण शरीर की, तीन समिधाओं की निरन्तर आहुति देनी होगी।

उसका हृदय-भक्ति का बीज, उसी वेदि से प्रस्फुटित हुआ करता है, किन्तु लोक-हृदयों पर विजय पाता हुआ, राष्ट्र को

---

१. यजु० ३१।३

२. मुण्डकोपनिषत् ३।२।४

३. शत० १।२।१।२०

अपने वश में ले-आता है। यज्ञ जब संकोचशील होता है, तब वह वामन कहलाता है, और वही विकासशील होता है तो विष्णु। अर्थात् वामन और विष्णु एक ही वस्तु के दो छोर हैं। यदि वामन अवर छोर है, तो विष्णु परम छोर है; वामन अवरार्ध्य है तो विष्णु परार्ध्य। क्षेत्र-भेद से इसी उपमा के अनन्त रूप हो जाते हैं। वृत्त के दो छोर, केन्द्र और परिधि, वामन और विष्णु हैं। यज्ञ के दो छोर अग्नि और सूर्य, जगति के दो छोर वामन और विष्णु हैं।

अग्न्याधान-

यज्ञ समस्त भुवनों की नाभि है। यज्ञ में प्रज्वलित अग्नि क्या है? क्या तत्त्व है? जिस वेदि में अग्नि आहित होती है, हवि प्रदान की जाती है, उसका स्वरूप क्या है? यज्ञकुण्ड की रचना नीचे से चतुर्थांश और ऊपर से चतुर्गुणित क्यों है? वेदि तक पहुँचने के लिए ये तीन सीढ़ियाँ किस प्रक्रिया का प्रतीक हैं? इन प्रश्नों की समाधानभूमि पर अब प्रश्न उठता है कि स्वयं अग्न्याधान किस भाव का प्रतीक है और किस उद्देश्य को लेकर उसका विधान है? उसका क्या प्रयोजन है? अग्न्याधान पर विचार करना इसलिए भी आवश्यक है कि व्यक्ति को उसका महत्त्व पता चल सके। जब तक व्यक्ति अग्नि का आधान नहीं करता, जब तक संकल्प नहीं लेता, तब तक साधारण मनुष्य ही रहता है, द्विजन्मा नहीं कहला सकता। जहाँ अग्न्याधान किया कि द्विजत्व को प्राप्त किया। मैत्रायिणी संहिता में लिखा है-**'अजातो वै तावत्पुरुषो यावदग्निं नाधत्ते, स वै तर्हि एव जायते यः हि अग्निं आधत्ते।'** (मै० १।६।४)

हम अग्न्याधान का प्रयोजन लिखें, उससे पूर्व विधि-भाग लिखकर उसकी व्याख्या करना आवश्यक है। ऋषि दयानन्द संस्कारविधि में सामान्य अग्निहोत्र-प्रकरण का आरम्भ करते हुए लिखते हैं कि-यजमान 'ओं भूर्भुवः' का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के घर से अग्नि ले आए और 'ओं भूर्भुवः

स्वद्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा....अग्निमादधे' कहकर अग्नि का आधान करे।

अग्नि-आहरण-

सर्वप्रथम-यह जो लिखा है कि यजमान ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य के [द्विजों के] घर से अग्नि लाये, शूद्र के घर से नहीं, तो क्या शूद्र के घर से लाई अग्नि यज्ञ-कुण्ड में प्रदीप्त न होगी? होगी अवश्य, परन्तु उसके घर से लाई गई अग्नि साधारण चूल्हे की आगमात्र ही तो होगी, यज्ञवह्नि न होगी। अग्नि लाने का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जिस व्यक्ति के जीवन का कोई निश्चित संकल्प न हो, उस अवस्था में वह किसी द्विज की संकल्पाग्नि में से कुछ चिंगारी लेकर अपने हृदय में आहित कर ले। शूद्र के घर से अग्नि न लाने में उसकी संकल्प-शून्यता या संस्कार-विहीनता ही कारण है। शूद्र अनाहिताग्नि है, जबकि द्विज आहिताग्नि।

उद्देश्य

अग्न्याधान का उद्देश्य क्या है? अग्न्याधान-मन्त्र में आदिष्ट है कि देवयजनी (देवों की यजनस्थली) पृथिवी के पृष्ठभाग में अन्नाद अग्नि का आधान करने चला हूँ, इसलिए कि प्रभु की सत्तामात्र से, भूम्ना से वह द्युलोक अवस्थित है, तद्वत् यह धरती हमारी पृथिवी भी देवसविता के वरेण्यं भर्गः से, वरिमा से, ज्योति के पुतलों से, दिव्यता से, भर जाये।

यजमान की एकमात्र आकांक्षा यह होनी चाहिये कि उसकी दुनिया दिन में भी वैसी ही आबाद नज़र आए, जैसे तारों से भरी रात। मानो वह कह रहा हो-प्रभो! जब मैं ऊपर को दृष्टि पसारता हूँ, तो सर्वत्र चमकती हुई दुनिया ही दृष्टिगोचर होती है। मेरी आँखों की जहाँ तक पहुँच है, सब कहीं चमकते ज्योतिष्मान् पिण्ड ही नज़र आते हैं। ये आप-से-आप थमे हुए हैं, स्वयं गतिमान् हैं, भूम्ना, स्वधया, आत्मबलेन।

कण-कण पर एक उसी की छाप है। पत्ते-पत्ते में एक उसी

की सत्ता प्रतिभासित है, अन्तर्निहित है। मनुष्य तो बस उसका किञ्चित् अनुकरण ही कर सकता है। किन्तु यही क्या कुछ कम है? तेरी एक नज़र, एक ईक्षण, मेरी कायापलट कर सकता है। मैंने फैसला कर लिया है, स्वयं वरण कर लिया है।

स्वर्गावतरण-

यह अनुकरण-वृत्ति ही, एक आसमान की बादशाहत को धरती पर उतार ला सकती है। आकाश की विस्तृत बगिया से चुन-चुनकर मैं चन्द्र, ध्रुव, अरुन्धती के फूल लाऊँगा और उन्हें अपनी पसन्द के मुताबिक तुझे पहनाने के लिए एक वरमाला में गूँथूँगा। यदि मुझे परिवार, समाज अथवा विश्व के लिए सप्त-ऋषियों की आवश्यकता होगी, तो उनसे अनुनय-विनय कर लूँगा, अपनी देह में पृथिवी पर स्वर्ग उतार लाऊँगा स्वर्ग मनुष्य द्वारा दैवी भाव के अनुकरण ही को तो कहते हैं! यह सब ठीक है याज्ञिक! किन्तु क्या तू समझा भी कि तूने अग्न्याधान किस लिए किया था? देख, तुझ पर कितना बड़ा दायित्व है! अब दुनिया के किसी कोने में अँधेरा नहीं रहना चाहिए। धरती पर स्वर्ग उतार लाना ही तेरे इस अग्न्याधान का उद्देश्य था। तेरा दायित्व कितना महान् है, तूने कभी अनुभव किया? द्युलोक के राज्य को पृथिवी पर अवतरित करने के लिए इस विराट् को समझ ले। उस विराट् पुरुष का यह पृथिवी चरण है। पृथिवी और सूर्य लोक के बीच में फसे हुए लोक-लोकान्तर विराट् के हृदय हैं। उससे परे ज्योतिर्मय पिण्डों का द्युलोक मूर्धा है। धरती पर स्वर्ग को अवतरित करने चला है तो तुझे पहले भूगोल का, भू-गर्भ का, स्व-गर्भ-शास्त्र का पूर्ण वेत्ता होना होगा जिससे तेरा चुनाव सही हो सके, और आकाश में ब्रह्माण्ड का मानचित्र सदा तेरे सम्मुख खुला है। उसी का मानचित्र तेरा यह पिण्ड-सर्वस्व प्रत्यक्ष उपस्थित है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है और पिण्ड में नहीं है, उसे उतार लाना तेरा काम है-पहले पिण्ड में, पश्चात् वही व्यवस्था समाज में, समाज के

बाद राष्ट्र में, राष्ट्र के बाद विश्व में उतार लाना। ऐ याज्ञिक! दिव्यता का जितना अंश हम अपने तईं अवतरित कर सकें, उतने ही तक पृथिवी दैवी हो सकती है; न कुछ कम, न कुछ अधिक। किन्तु इस सारे दैवी भाव की सम्भावना का माध्यम यदि कुछ हो सकता है, तो यह तेरा शरीर ही है। कहते हैं ना! शहर में सफाई लाने का एक ही ढंग है, अपने घर से आरम्भ कर दो, एकदम इस देह को देवपुरी बनाओ-देवताओं की अयोध्या पुरी-**'देवानां पूर् अयोध्या'**।[१]

तैंतीस देवताओं का अवतरण-

ऐतरेय उपनिषद्[२] में एक गाथा आती है-प्रजापति ने ब्रह्माण्ड का निर्माण किया। अनेकों देवताओं की रचना कर डाली, पूरे ३३ देवताओं की, तीनों लोकों के ग्यारह-ग्यारह के हिसाब से तैंतीस की, परन्तु उन्हें कोई ठिकाना नहीं दिया, कोई घर नहीं दिया। किरायेदारों की-सी माँग-आवाज आई-रहने को मकान दो! इसपर प्रजापति ने कहा-'मकान एक नहीं, लाखों हैं। पसंद करो और जिसमें चाहो निवास करो। प्रजापति ने जब गाय का ढाँचा दिखाया, तो निषेध कर दिया। घोड़े का पञ्जर दिखाया, तो भी नाक-भौं सिकोड़ने लगे। अन्ततः परमात्मा ने पुरुष-शरीर को ला खड़ा किया और कहा-लो, इससे उत्तम और कुछ नहीं। बस, फिर क्या था! प्रत्येक देव नाच उठा और बोला-आहा! क्या पुण्यमय है! फिर तो 'मैं पहले, मैं आगे' ही होड़ होने लगी। अग्नि ने, वायु ने, सूर्य ने, चन्द्र ने, सभी ने भिन्न-भिन्न कोठरियों पर अधिकार कर लिया। आन की आन में यह मानवदेह देवपुरी बन गई। इनमें सबसे जो अग्गू था, उसी का नाम अग्नि रख दिया गया और वह भी इस देवपुरी के मुख्य द्वार मुख में बैठा-**अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्**-मानो वेदि मिल गई। यजमान के आसीन होते ही विश्वेदेव कब चूकने

१. अथर्व १०।२।३१
२. ऐतरेयोपनिषत् खण्ड २

वाले थे! वायु ने नासिकारन्ध्रों पर ही आसन जमा लिया-**'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्'**। आदित्य ने दर्शन-शक्ति बनकर आँखों पर अधिकार कर लिया- **'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा आक्षिणी प्राविशत्'**। दिशाएँ श्रवण-शक्ति बनकर कानों में आ बसीं, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में आ बसा। ओषधियाँ रोम बनकर समस्त त्वचा पर छा गईं। जल वीर्य बनकर शिश्न में आ विराजा। और तो और, मृत्यु ने भी अपान बनकर गुदा में ठिकाना बना लिया। अथर्ववेदीय केनसूक्त के शब्दों में यों कहा जा सकता है कि देवों ने ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण शक्तियों का सिंचन कर पिण्ड में प्रवेश किया। अब ब्रह्मांड की भाँति पिण्ड भी पूर्ण हो गया और पूर्ण होने से पिण्ड 'पुर' कहलाया। अब कहेंगे-**पूर्णमदः पूर्णमिदम्।**

'देहवेदि' देवयजनी है-

यह मानव-देह ही वह वेदि है जिस पर सर्वप्रथम अग्न्याधान हुआ। देह देवयजनी बन गई। यज्ञ में हवि के भूखे और देव भी आये थे। यज्ञशाला का नाम पड़ गया-सधस्थ। ब्रह्माण्ड-पति यजमान बने, प्रकृति और पुरुष पुरोहित बने। प्रकृति ने श्रद्धा का रूप धारण किया था, पुरुष ने सत्य का। देह वेदि बन गई। उसपर यजमान के साथ देव आ बैठे और विश्वयज्ञ शुरू हो गया। जड़ता में चेतना आ गई। चेतना संचार करके भगवान् एक ओर खिसक गये, 'पुरोहित' बन गए-यह देखने के लिए कि पुत्र-मनुज स्वयं यजमान बनकर अपना आत्मोद्धार कर सकता है कि नहीं? अर्थात् यह शरीर ही 'प्रथम वेदि' है, देवयजनी है। इसी में यज्ञ-पुरुष का प्रथम अवतरण हुआ था। देवयजनी अर्थात् देवों का घर। पिण्ड में अवतरित होकर मानो ब्रह्माण्ड यदि विराट् है तो पिण्ड स्वराट्। विराट् यदि विष्णु है, तो स्वराट् वामन। ब्रह्माण्ड और पिण्ड, विराट् और स्वराट्, विष्णु और वामन परस्परापेक्षणीय संज्ञाएँ हैं। पिण्ड की अपेक्षा छोटी वस्तु की संज्ञा क्षेत्रांतर में वामन होगी, तब

पिण्ड स्वयं विष्णु कहलायेगा। खैर, यह देह वेदिस्थानीय है। देवों ने मानव-देह का और दैवीकरण किया था। अब प्रश्न है परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व के दैवी-करण का। यह दायित्व मनुष्य का है कि वह इनका दैवीकरण किस प्रकार करे।

वेदि-मञ्च पर समिधा का अभिनय-

यह जीवन एक यात्रा है। अग्नि उस यात्रा में वह ज्योति है, जो हमारा पथ प्रशस्त करती है; किन्तु यह ज्योति मन्द न हो पाये, इसीलिये इसमें समिधाएँ पड़ती रहनी चाहिएँ। समिधाएँ कुछ भी हो सकती हैं, फिर भी उनमें भावना एक ही होती है-समर्पण की भावना, 'सम्'-अन्तः, 'समता एकीभूय दीप्यते दीपयति च' खुद रोशन होकर रास्ते को रोशन करने की एक हवस-सी।

जैसा पहले लिख चुके हैं कि समिधा का महत्त्व तो उसमें प्रयुक्त 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'इन्धि दीप्तौ' धातु से ही स्पष्ट है। वह पदार्थ जो अग्नि को प्रदीप्त करने में अपना सर्वस्व अर्पित कर दे, समिधा कहाती है। यास्क कहते हैं: 'समित्येकीभावे'-बहुतों का एकीकरण। समिधा की विशेषता यही है कि वह बहुत होती हुई एकीभाव से रहती है। जबतक एकीभाव न हो, तब तक प्रदीप्त नहीं हो सकती, अतः जहाँ अग्नि एक है वहाँ समिधाएँ अनेक होकर भी एकीभाव से रहती हैं, तब कहीं स्वयं दीप्त होती हैं और अग्नि को भी दीपित करती हैं। यह है महत्त्व 'सम्' उपसर्ग का।

याज्ञिक को अग्नि और समिधा में से किस पात्र का अभिनय करना है? अग्नि का अथवा समिधा का? नेता का अथव नीयमान का? अग्नि एक है तो समिधाएँ बहुत, नेता एक है तो नीयमान अनेक। यदि वह नेता है तो उसे अग्नि को आदर्श बनाना होगा। इस अध्याय में हमारा उल्लेखनीय विषय समिधा है। अतः नीयमान का कर्त्तव्य है कि जहाँ वे संख्या में बहुत हों वहाँ उनमें एकीभाव, समता आवश्यक है। इसी बात को अनेक

कक्षाओं में देख सकते हैं। आत्मा यदि अग्नि हो इन्द्रियाँ उसकी समिधाएँ हैं। राजा यदि अग्नि है, तो प्रजाजन उसकी समिधाएँ। सेनापति यदि अग्नि है तो सैनिक उसकी समिधाएँ। आचार्य यदि अग्नि है तो शिष्य-मण्डल उसकी समिधाएँ। इन समिधा-स्थान व्यक्तियों तथा उनके नेताओं की दीप्ति परस्पर संगति पर निर्भर है, सहयोग और संगतिकरण पर आधारित है। यही 'सम्' उपसर्ग का महत्त्व है।

अध्यात्म-कक्षा की समिधाएँ-

आत्मा यदि अग्नि है तो इन्द्रियाँ उसकी समिधाएँ हैं। वे आत्मा को सम्यक् दीप्त करती हैं और आत्मा उन्हें दीप्त करता है। आत्मा के ज्ञान-यज्ञ में मन के हाथों, इन्द्रियों द्वारा उपहृत रूप, रस और गन्धादि ज्ञान की हवि पड़ती है। इन्द्रियों का समित्व इसमें होता है कि उनका सम्पूर्ण दर्शन द्रष्टा के स्वरूप को उभारने में एकार्पित हो। तभी ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है। **इध्यस्व-एधय, वर्धस्व-वर्धय**-खुद चमक और हमें चमका, खुद बढ़ और हमें बढ़ा। समिधा अग्नि के संसर्ग से चमक उठती है। किन्तु स्वयं अग्नि भी तो समिधा से ही प्राणवान् होता है, बुझ नहीं पाता। यही अग्नि के अमृत होने का, अमृत करने का रहस्य है। एकार्पण की भावना दोनों ओर से है-अन्योन्यगामी है-**सम्-एधय, प्रजया, पशुभिर्, ब्रह्मवर्चसेन, अन्नाद्येन**-स्वयं समित् हो रही माँ की छाती को भी तो रस मिलता है।

अधिविद्य-कक्षा की समिधाएँ-

समित्पाणि होकर ब्रह्मचारी आचार्य के चरणों में उपस्थित होता है-मुझे गुरुकुलीय जीवन का अंग बनाइये। समित्पाणि-ब्रह्मचारी आज तक बन्धन-मुक्त था, अब आचार्य का हो गया। शासन आचार्य का होगा और क्रियान्वयन शिष्य का। शासक, शिष्य और अनुशासन, यही कुछ तो शिक्षा का सूत्र एवं सार है। समिधाएँ प्रतीक होती हैं किसी भावना का कि मैं विनेय हूँ, मुझे विनीत कीजिये, मुझे स्वीकार कीजिये। तीन-तीन

समिधाएँ-मनसा, वाचा, कर्मणा आत्मसमर्पण, ध्येयपूत्यर्थ एकात्मना अर्पण। ब्रह्मचारी के हाथ में पृथिवीलोक और द्युलोक की तीन समिधाएँ हैं। वेद के शब्दों से सुना रहा है कि यह आदित्य ब्रह्मचारी इस पृथिवी को पहली समिधा बना लाया है, द्युलोक को दूसरी समिधा बनाकर, और उसके हाथों में अन्तरिक्ष तीसरी समिधा है। निराले ब्रह्मचारी का निराला समिदाधान है। वह कह रहा है कि यह भूलोक, मेरा पार्थिव शरीर, आपके समर्पित है। यह अन्तरिक्ष-लोक, अन्तः-ईक्षण का साधन मेरा हृदय, आपके समर्पित है। द्युलोक, देवत्व का साधन मस्तिष्क, आपकी भेंट है। इन तीनों समिधाओं को स्वीकार करें और उन्हें ऐसी आँच दें कि जिससे अनेक समित्पाणि विद्यार्थी आपके चरणों में भेंट रख सकें। राष्ट्र का पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक मेरे हाथ की समिधा बन जाये। राष्ट्र का भूलोक शूद्रवर्ग, राष्ट्र का अन्तरिक्षलोक वैश्यवर्ग तथा क्षत्रियवर्ग, ब्राह्मणवर्ग राष्ट्र का द्युलोक आपके चरणों में समर्पित हो जाये। ब्रह्मचारी के समित्पाणि होने का यही प्रयोजन है। ये साधारण समिधाएँ उन बृहद् समिधाओं के प्रतीक हैं, जो बृहद् जातवेदस् अग्नि के लिए समर्पित की जाती हैं। निराले ब्रह्मचारी की समिधाएँ ही निराली नहीं हैं, अपितु उसके यज्ञकुण्ड की अग्नियाँ भी निराली हैं। यदि इस ब्रह्माण्ड विराट् के तीन लोक तीन समिधाएँ हैं तो तीन की अग्नियाँ भी जुदा-जुदा तीन हैं; अतः इस पृथिवीलोक-समिधा की अग्नि प्रत्यक्ष है। अन्तरिक्ष-समिधा की अग्नि 'वायु' है। द्युलोक-समिधा की अग्नि स्वयं 'आदित्य' है।

'पृथिवी' प्रथम समिधा-

यह पृथिवी प्रथमा (पहली) समित् है। यह पृथिवी-समिधा अग्नि को दीप्त करती है। इधर अपने पार्थिक शरीर (पृथिवीसमित्) को मैं (आत्माग्नि) दीप्त करता हूँ। देखो, मेरी शरीरसमिधा का रोम-रोम चमक उठा है, कोना-कोना दमक उठा है। आँखों में ज्योति है तो मेरे ही बदौलत, भाल पर कान्ति

है तो मेरे ही कारण, गालों पर लाली है तो मेरी ही कारण, क्योंकि मैं स्वयं लाल हूँ, अग्नि हूँ, इस प्रकार शरीर-समिधा को दीप्त करता हूँ। यह समिधा मुझे आयु से, मेधा से, वर्चस् से, श्री से, यज्ञ से, ब्रह्मवर्चस् तेज से, अन्न के अदन से बढ़ाए।

'अन्तरिक्ष' दूसरी समिधा-

अन्तरिक्ष दूसरी समिधा है। इस अन्तरिक्ष-समिधा को वायु सम्यक् दीप्त करता है। वह अन्तरिक्ष-समिधा वायु को दीप्त करती है। यह परस्पर समिन्धन है, अन्तरिक्ष और वायु का, यह तो स्पष्ट ही है कि यदि अन्तरिक्षलोक न हो, तो वायु बढ़ ही न पाये। उसे फैलने को स्थान ही न मिले, इसका दम घुट जाये। अग्नि बुझ न जाये, इसलिए इसे सम्यक् दीप्त करने के कारण अन्तरिक्ष-समिधा है। इसकी गति भी अन्तरिक्ष के ही आश्रित है। जहाँ अग्नि अग्रणी है, आगे तक पहुँचाता है, वहाँ वायु अग्नि का भी अग्नि है। वह तो इसका भी अगुआ है। अग्नि ने जिस पृथिवी की गन्ध को सूक्ष्म बनाकर सहस्रगुणित किया, उसे यह वहन करता हैं इसलिए यह गन्धवह है और इस गन्धवह का वहन अन्तरिक्षलोक करता है।

अध्यात्म में यदि देखें तो मेरा अन्तरिक्ष-लोक अन्तः-ईक्षण-लोक 'हृदय' है। इस हृदय-समिधा को प्राण समिन्धन करता है। यदि हृदय न हो तो प्राण को निवास ही कहाँ मिले? वह हृदय-समिधा पर ही तो आसन जमाता है! यह परस्पर समिन्धन है-प्राण और हृदय का, वायु और अन्तरिक्ष का। हृदय-समिधा से मैं आत्माग्नि प्रदीप्त करता हूँ और वह हृदय-समिधा मुझको प्रदीप्त करती है। यदि मैं आत्माग्नि प्राण न होऊँ, तो हृदय की गति रुक जाये, और यह सारा खेल समाप्त हो जाये। और यदि हृदय-समिधा न हो, तो मुझे आत्माग्नि का प्रकाश कैसे हो? उसकी दीप्ति कैसे हो? हृदयहीन व्यक्ति का जीवन भी कोई जीवन है! इसलिए वह समिधा मुझे आयु से, तेज से, वर्चस् से, श्री से, यश से, ब्रह्मवर्चस्तेज से और अन्न

के अदन से बढ़ाये।

'द्यु-लोक' तीसरी समिधा-

द्युलोक तीसरी समिधा है। इस द्युलोक-समिधा को आदित्य दीप्त करता है और वह समित् आदित्य को दीप्त करती है। उसको मैं दीप्त करता हूँ, समिधा मुझे दीप्त करे। आधिदैविक क्षेत्र में यह समिधाभूत द्युलोक आदित्य-अग्नि से ही दीप्तिमान् है। दिन के समय जब प्रत्येक व्यक्ति द्युलोक की ओर आँखें उठाता है, तो द्युलोक में यह सूर्य ही तो है जो द्युलोक को चमकाता है, और उसकी दीप्ति इतनी है कि अन्य नक्षत्र दृष्टिगोचर नहीं होते। जो द्युलोक रात्रि के समय अनन्त ज्योतिष्मान् पिण्डों से व्याप्त है, वह दिन मे सूर्य से ही प्रकाशमान् है।

द्यौ और आदित्य दोनों समिधा-

आदित्य वह अग्नि है जो द्यौ-समित् को दीप्त करता है, और द्यौ वह समित् है जो सूर्य-अग्नि को दीप्त करता है। उसका इन्धन द्यौ ही है। उसकी चमक वहीं शोभायमान होती है। ब्रह्मचारी द्युलोक को समिधा बनाकर लाया है, मानो उसने ज्ञानलोक, मस्तिष्क, ज्ञानेन्द्रियसमूह-आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा अर्थात् मुख को इस पिण्ड, जो त्रिलोकी का द्यु है, आचार्य को समर्पित कर दिया। तभी तो आचार्य ने उसे आदित्य-अग्नि में आधान कर दिया, आदित्य ने उसे अपने लोक में ले लिया। वह मानो आदित्य बन गया।

सुषदा और अदब्धता के प्रतीक-

समिधा अग्नि का रूप धारण कर गई। इसलिए देह-वेदि के यजमान, गाये जा कि 'मैं पृथिवीलोक को समिधा बनाकर लाया हूँ। मैं पृथिवी के समान सुषदा बनूँ। अच्छी बैठक बनूँ। मुझे अग्नि अपना सदन बना ले। मैं उत्तम सधस्थ बनूँ और इस समिध ा के देवता अग्नि के समान अनाधृष्य बनूँ-न दबाया जा सकने वाला बनूँ। मैंने देखा है कि अग्नि को हजार दबाने का यत्न करें, उसे किसी दिशा से भी दबाया नहीं जा सकता, वह

अग्रगामी है। उसके सामने लोहे की चादरों की तहें लगा दो, वह इनको चीरता हुआ आगे-ही-आगे बढ़ता है-सर्वथा अधृष्य, अदब्ध-न दबाया जा सकने वाला। बस, मैं भी ऐसा ही बनूँगा कि मुझे किसी दिशा से दबाया न जा सके। मैं ऐसा अदब्ध बनूँ कि बाधाओं को दबा डालूँ, बाधाएँ मुझे न दबाएँ। सर्वथा अधृष्य बनूँ।' परन्तु यह होगा अपने पृथिवीलोक को समिधा बनाने से।

व्यापकता और यशस्विता के प्रतीक-

गाए जा कि 'अन्तरिक्ष-समिधा की भाँति इतना व्यापक बनूँ कि कोई मुझे नाप ही न सके। मेरे अन्तः-ईक्षण का साधन हृदय, अन्त-करण, अनाप्य हो। यदि मेरे हृदयाकाश को किसी व्यक्ति-विशेष ने नाप लिया, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि मेरा हृदय भी संकुचित हो जायेगा, सीमाबद्ध हो जायेगा, अनुदार हो जायेगा। इसलिए मेरा कहना है कि मेरा हृदय अन्तरिक्ष की भाँति न नापा जाने योग्य हो।

कहते हैं कि समिधा आठ अंगुल नपी होनी चाहिए। परन्तु मेरे हाथ की हृदय-समिधा अनाप्य है, तभी तो उसमें वायु का प्रवेश होगा। वायु- देवता आ विराजेगें। मैं वायु बनूँगा, सबका प्राण बनूँगा, सबकी जान, अग्नि की जान। चलो, अन्तरिक्ष को मुझ वायु से अलग करके, अग्नि को जलाकर तो देखो! तत्काल अग्नि बुझ जाएगी। अग्नि की अध्यक्षता मेरे कारण है। ऐ मेरे हृदय-कुण्ड के देवता वायो! मुझे उड़ा ले चल। मेरा हृदय-कुण्ड तो इतना विस्तृत है, अनाप्य है कि तेरी दौड़ भी उसे न पा सकेगी। इसलिए मेरे हृदय तक पहुँचा दे, जिससे कि मेरे हृदय-समिधा की सुगन्धि जन-हृदय-समिधा को छू जाये। तेरे ही कारण यह तार अटूट बना रहे। मेरा अन्तरिक्षलोक (हृदय) इतना विशाल हो जाएगा कि मैं मस्ती में गाऊँगा-'वायुरिव श्लोक भूर्भूयासम्'- वायु की भाँति पृथिवी और अग्नि की यशोगाथा को दिग्-दिगन्त में फैला दूँ। हम लिख चुके हैं कि

पृथिवीलोक समिधा है, तो उसकी देवता अग्नि है। द्युलोक समिधा है, तो उसका देवती आदित्य है। अन्तरिक्षलोक समिधा है, तो उसकी देवता वायु है; जहाँ वायु है, वहाँ उसका देवता चन्द्रमा भी है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी का अन्तरिक्षलोक (हृदय-समित्) जहाँ विशाल हो, अनाप्य हो, वहाँ उसका देवता चन्द्रमा की भाँति आह्लादगुण कारक भी होना चाहिए। जिस हृदय में आह्लाद नहीं, वह अनाप्य भी नहीं। तद्‌वत् मेरा आह्लाद प्रत्येक के चित्त को हरने वाला हो। मैं चन्द्र की भाँति पुनर्भू होऊँ। मैं लोगों के हृदयाकाश में पुनः-पुनः नया होकर उदित होऊँ। मेरी नित्य नई कला उन्हें नया आह्लाद देती रहे।

लोक-हृदय में नित-नूतन आह्लाद लाता हुआ मैं अन्तरिक्ष की भाँति, अमित वायु की भाँति सदा गति और गंधवह, चन्द्र की भाँति अपनी नई-नई कलाओं से युक्त होकर उदित होता रहूँ।

अप्रतिधृष्यता का प्रतीक-

द्युलोक समिधा है और उसका देवता आदित्य है, उसी प्रकार मेरा मस्तिष्क समिधा है, तो उसका देवता सत्य है। जैसे आदित्य अखण्ड और अनाधृष्य है, वैसे ही मेरे मस्तिष्क का सत्य भी अखण्ड और अनाधृष्य होवे, अग्नि की भाँति जहाँ मैं किसी से दबाया न जा सकूँ, वहाँ सूर्य की भाँति अप्रतिधृष्य बनूँ। मुझे कोई दबाने वाला पैदा ही न हो। मैं अदिति का बेटा आदित्य बन जाऊँ। मेरे मस्तिष्क-समिधा से वह सत्याग्नि प्रदीप्त हो कि उसका कोई प्रतिद्वन्दी न निकले, खोजने से भी न निकले। मैं अप्रतिधृष्य बनूँ। इस प्रकार वैयक्तिक जीवन में जहाँ ब्रह्मचारी अपने स्थूल शरीर भूलोक को, जहाँ वह सूक्ष्मशरीर अन्तरिक्षलोक को, वहाँ वह अपने कारण शरीर द्युलोक को समिधा बना देता है।

वेदि-मञ्च पर आज्य का अभिनय-

जिसके द्वारा जय-लाभ किया जाय, जो सर्वथा विजित हो,

उसे आज्य कहते हैं-**आ समन्तात् यज्जितं तदाज्यम्; आजयमेवाज्यम्।** वास्तव में जय को ही हवि बनाना उत्तम होता है। दूध में विद्यमान घृत के कण-कण को सब ओर से संगृहीत कर लेना, मुट्ठी में कर लेना, जय करना है; पुनः इस जय को मुट्ठी में लेकर, उसे हवि बना देना कर्म है, और इस हवि का नाम है-**आज्य।**

'आज्य' को हस्तगत करने के लिए कितनी जागरूकता अपेक्षित होती है!-पहले गो-सेवा, बछड़े से बचकर आपके लिए जो कुछ दूध शेष रहे, उसे उचित आँच पर कढ़ाना कि उफन न जाय, फिर जाग (जामन) का स्पर्श, जमने तक उचित तापमान में रखना, दही बनने पर विधिवत् बिलोना, अब सञ्चित नवनीत कणों को संहृत करना, मानो हाथ फैलाकर कण-कण को बुलाते हुए कहना-आ सब ओर से आ! और देखते-ही-देखते कण-कण का आपकी मुट्ठी में आ जाना और कह उठना कि लो, जीत लिया! यह सब ओर से जीता गया-'एतदाज्यम्'।

ऐ याज्ञिक! तेरी मुट्ठी का आज्य हवि है। इसे **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** समझकर प्रयोग करना। इसे चुराना पाप है, अकेले खाना अपराध है। यज्ञहवि पर तेरा अधिकार नहीं, यज्ञशेष पर अधिकार है। अतः सर्वप्रथम **'इदमग्नये इदं न मम'** कह और जो शेष रह जाए उसे उपयोग में ला।

सत्य-आज्य का मन्थन अति दुष्कर-

श्रद्धा अग्निः सत्यम् आज्यम् जब साधारण आज्य को विजित कर सकना इतना कठिन है, तो फिर सत्य-रूप आज्य को जीत सकना कितना दुष्कर होगा? कितने वर्षों की श्रद्धा उसकी भूमिका बनाती है!

यह विश्व एक विशाल गोचर-क्षेत्र है, इन्द्रियरूपी गौवों का गोचर....विषयों की तरह-तरह की घास। इन्द्रियाँ उसे चर-चराकर लौटीं, उससे ज्ञान-दुग्ध तैयार करना। यदि उसे जुगाला न जाये,

तो दूध की तो कथा ही क्या, रस भी न बनेगा। तर्क-जुगाली हुई कि कंकड़-पत्थर-गन्दगी-फुजला आदि निकाल एक तरफ किया, फिर ज्ञान-दुग्ध को प्रज्ञा का जाग दिया, और विज्ञान दही बना, ध्यान-मथनी में मथन हुआ, तब कहीं कण-कण में विद्यमान सत्य आज्य संहृत किया गया, और इसके लिए चिन्तन-मथनी से मन्थन करना आवश्यक हुआ, फिर विवेक के हाथों से फेंटकर सत्य कणों को कहना कि आओ-आओ, मेरी वाणी-चमस् पर आओ (आ इत्यर्वाङ्अर्थ) और जहाँ वाणी-चमस् पर आया कि आपने कहा कि **आसमन्तात् जितं सत्यम्** और आज्याहुति देनी आरम्भ कर दी। यदि विवेक के हाथों ने सावधानी न बरती तो शुद्ध सत्य की उपलब्धि कभी न हुई होती। इसकी जाँच तो आग पर तपाये जाने पर ही होगी कि कितना घृतांश है और कितना जलीयांश। जितना भी जलीयांश रह जायेगा, उतना ही खोट रह जायेगा। वही सत्याभासरूप छाछ सत्याज्य में दुर्गन्ध पैदा करेगा। उसे सत्य कहना भूल होगी जो लोगों की श्रद्धाग्नि में चिड़चिड़ाहट पैदा करेगा। शुद्ध आज्य तो अग्नि को प्रदीप्त करेगा और बुझती हुई को बचाएगा, चमकाएगा, सत्य आज्य की तो विशेषता ही यह होगी कि वह लोगों की मन्द हुई श्रद्धाग्नि को उत्तरोत्तर बढ़ाए, चमकाए, बोधित करे। तभी तो कहा कि **"घृतैर्बोधयत"**। प्राप्ताग्नि को घृत से चमकाओ! इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं-**श्रद्धा अग्निः सत्यमाज्यम्**-श्रद्धा अग्नि है और सत्य आज्य हैं यही आज्य महायज्ञ समाप्त न होने वाली आहुति-**सत्यमाज्यम्।**

रेत-आज्यम् [अधिप्रज]-

वीर्य संजीवनी है। 'अङ्गादंगाद् संभवसि' यह देह यदि हमारी देवपुरी है, तो इसी एक इन्द्रबिन्दु के कारण ज़रा-सी उत्तेजना, वासना, सारे जीवन की कमाई को एक क्षण में मिट्टी में मिला सकती है। सामवेद में इसलिए आता भी है-'सोमो य उत्तमं हविः'। पृथिवी का रस था-अन्न, जो हमारे उदर की हवि

बना-जहाँ वह रस बना, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से अस्थि, अस्थि से मज्जा और अन्त में मज्जा से वीर्य। कितनी आज्य-प्रक्रियाओं, रसायन-विधियों का तत्त्व होती है यह नन्ही-सी बूँद। किन्तु कामरूपी कुत्ता है कि लम्बी जीभ निकाले उधर ही आँख लगाए है! अभी तो वीर्य ने ओज बनना है, तन-मन से सिक्त होकर सोम बनना है, पवित्रता का प्रतीक पवमान बनना है।

ब्राह्मण का जय-साधन होता है उसकी वाणी-**'वागेवाज्यम्'**[१] **'सर्वाणि स्वराणि आज्यानि'**[२] ज्ञान-सूर्य अज्ञानान्धकार पर विजय पा ही लेता है। ब्राह्मण का धर्म है-अपनी वाणी को, अपने विचारों को निरन्तर संस्कृततर करता चले कि अनार्य म्लेच्छ जन असत्य द्वारा सत्य पर हावी न होने लगें-**'सत्यमाज्यम्'**। **छन्दांसि आज्यम्**[३]-

ब्राह्मण ने वैदिक संस्कृति के मौलिक तत्त्वों को अपना छन्द बना लिया, अपना 'व्यवहार-पद' बना लिया- उसकी हर चेष्टा उत्तर से उत्तम होती गई। ब्राह्मण के इस 'आदर्श व्यवहार' को, छन्द को देखकर उसी के अनुरूप लोक-व्यवहार में परिवर्तन आने लगा-लोक-जीवन में कायाकल्प होने लगा। लोग आर्य बनने लगे, देव बनने लगे! इति **आचार-जयः**।

आदिकवि ने आदिमानव को ज्ञान देने के लिए उसे छन्दोनिबद्ध कर दिया कि वह सुरक्षित रह सके, स्मृतिबद्ध हो जाये, श्रुति के मिष से लोक-मानस पर छा जाये। इति **मनोजयः**।

अब यदि ब्राह्मण की इस जय-यात्रा में, उसके निष्काम साक्षरता-प्रचार में, सभ्यता-प्रसार में व्यर्थ किसी ने रोक लगाई, उसे वर्जित करने की सोची, तो ब्राह्मण ने तुरन्त अपना वज्र उठाया-**'वज्रो वा आज्यम्'**[४] ब्राह्मण का वज्र उसकी क्षात्र-शक्ति थी। क्षत्रिय ने देखा कि ब्राह्मण के ज्ञान-

---

१. कौषीतकि० २८।९ २. ताण्ड्य० ७।२।५०
३. तैत्तिरीय ३।३।५।३ ४. शतपथ १।३।२।१७

यज्ञ पर रोक लगा दी है, उसकी वाणी पर प्रतिबन्ध है, उसके हर व्यवहार, उसकी क्रिया पर प्रतिबन्ध है। असुरों की इस वर्जनीय शक्ति पर विजय पाने के लिए जिस आज्य (ज्य+आ) का आश्रय लिया गया उसका नाम वज्र हुआ: **'वज्रो वा आज्यम्'** (श० १।५।३।४)।

सृष्टि के आदि में संवत्सर-यज्ञ का प्रवर्तन हुआ, वसन्त ऋतु उसमें आज्य बना था, ग्रीष्म इध्म, शरद् हवि। वास्तव में वसन्त को वसन्त कहते ही इसलिए हैं कि वह संवत्सर-यज्ञ को सुवासित करता है। बसाता है। वर्ष ठहरा ही इसके सहारे है, सम्पूर्ण सृष्टि कुसुमित हो उठती है। सच पूछिये तो **'ऋतूनां कुसुमाकरः'**[१]। और यदि पुष्पों का उद्‌गम निर्विघ्न हो गया तो फिर फल के आने में संशय कहाँ रहा! दर असल फसल की सफलता भी तो फल से ही होती है। **वसन्तेन आज्येन (संवत्सरं) तस्मादाज्यानामाज्यत्वम्**। वसन्त के दो मास होते हैं - वैदिक साहित्य में इन्हें क्रमशः मधु तथा माधव कहते हैं। मधु मास में ही प्रकृति कुसुमकटोरों में मधु-ही-मधु भर लाती है। क्षुद्र-से-क्षुद्र वनस्पति पुष्प-गगरियों से मधु की आहुतियाँ उँडेल रही होती है। सारा वातावरण मधुमय बन जाता है। मधु-आज्य को पुनः भ्रमर, मधुमक्षिकाएँ उठा-उठाकर जहाँ-से-तहाँ बिखेरती फिरती हैं, इति **संवत्सर-जयः**।

वनस्पति-शास्त्र के जानकारों का कहना है कि नये पौधों को लगाने, एक जगह से दूसरी जगह आरोपण करने, पौधों में कलम लगाने, पैबन्द चढ़ाने की यदि कोई ऋतु है, तो यही वसन्त है, कारण कि पतझड़ के पश्चात् पौधों का मद, मधु, जो शरद् में मलाई की भाँति सिकुड़कर एक जगह इकट्ठा हो गया था, माली तक ने उम्मीद छोड़ दी थी, तभी-वसन्त ने अँगड़ाई ली, नई कोंपलों के मिष से पलकें खोलीं, कली-कली मुस्का उठी! इति **ओषधि-जयः**।

---

१. गीता १०।३५

पैबन्द का अर्थ बन्धुता-

पैबन्द चढ़ाने की ऋतु वसन्त ही क्यों है? पैबन्द का अर्थ होता है 'बन्धुता' और बन्धुता का बीज होता है स्नेह, घृत। यह स्नेह या तो वर्षा ऋतु में उमड़ता है या उससे भी अधिक मात्रा में वसन्त में। वर्षा में वृक्ष-वनस्पति नहा उठते हैं-जड़ से लेकर कोंपल तक जैसे रस के स्रोत में सराबोर हो गये हों! वसन्त में वही स्नेह अन्दर से उभरकर बाहर आता है। ग्रीष्म ने धरती को सुखा दिया या, स्नेह 'हवा' हो गया था, उसका पुनः अवतरण वर्षा ने किया, किन्तु शरद् ने स्नेह के उस प्रवाह को 'सघन' कर दिया, तब कहीं वसन्त ने आकर हिमगिरि की शिलाओं तक को सहृदय कर दिया, उन्हें पिघला दिया। लगी हुई पैबन्द और कलमें ऐसी जुड़ गईं कि उनका पहचानना भी कठिन हो गया कि कभी ये अलग भी थीं। लोग फल को देखकर ही कलमी या पैबन्दी होने का अनुमान लगाते हैं। यह सब इस ऋतुराज का ही कमाल है। माली ने आम, नाशपाती, संतरा, आड़ू, बेर आदि सभी पर पैबन्द और कलम बैठा दी और वसन्त-आज्य ही सहायता से वनस्पति-जगत् में सर्वत्र जय-लाभ कर लिया। इसीजिये कहते हैं- **'वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्'**[१] **'यदजयन्त तस्मादाज्यानामाज्यत्वम्'**[२] इति **वनस्पति-जयः**।

संवत्सर यज्ञ में वर्षा-वसन्त-

पुरुष-सूक्त में संवत्सर-यज्ञ का वर्णन करते हुए वर्षा ऋतु को भुला दिया जान पड़ता है। सचमुच वसन्त को आज्यरूप में स्वीकार किया गया है, ग्रीष्म को समित्समूह तथा शरद् को हवि। हवन के तीन ही साधन हुआ करते हैं-आज्य, इध्म और हवि। चौथी ऋतु को क्या कोई अवकाश रह भी जाता है? सच पूछिये तो आज्य का कार्य द्विविध होता है। हमने ऊपर बताया न कि वर्षा-ऋतु वनस्पति-जगत् को बहिरंग आप्लावन से

१. यजु० ३१।१४
२. तां० ७।२।१

जुटाती है, तो वसन्त उसके अन्तःस्रोतों को उद्भावित करती है। एक और स्थान में अथर्व में कहा भी है कि-**घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वं आत्मन्वद् वर्षेण आज्येन रोहितः**[1]-उस आत्मवान् ने ग्रीष्म-ऋतु को अग्नि बनाकर, वर्षा को आज्य बनाकर विश्व का निर्माण किया। सचमुच क्या देखा नहीं कि विश्वनिर्माण में, जिस कारण से इस जगति को विश्व कहते हैं, उसे विश् को-प्रजा को सरसाने, सजीव रखने में अन्नौषधि का कितना बड़ा हाथ है? फिर इन सब अन्न-ओषधियों के उगाने तथा लहलहाने में वर्षा का कितना हाथ है, यह बात किससे छिपी है! वस्तुतः वर्षा अपना हविदान का कार्य वसन्त के आगमन से पूर्व ही परिसमाप्त कर चुकी होती है। वह वसन्त की मानो भूमिका है। संवत्सरयज्ञ में वसन्त भी आज्य और वर्षा भी आज्य है। इन दोनों में श्रेष्ठ आज्य वह है, जो वृक्ष-वनस्पति को अन्दर से मथकर, जो आज्य निकालता है, वह वसन्त श्रेष्ठ आज्य है इसलिए आज्य में इसकी गणना की गई है।-**"वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्"**[2]। क्योंकि वर्षारूप हवि ने अपना पूरा काम किया है, इसकी असल परीक्षा तो वसन्त में ही जाकर होगी। प्रायः देखा गया है, जो डालें वर्षा में गाड़ी गई और हरी भी हो गईं, वे शरद् और शिशिर के थपेड़े न सह सकीं। उन्होंने दम तोड़ दिया। इसकी परीक्षा वसन्त में नयी कोंपलों के आने से हो जाती है। इसलिए वर्षा-आज्य की परीक्षा भी वसन्त में होनी है और वसन्त में लगाई गई कलम व पैबन्द की परीक्षा स्वयं वसन्त में हो ही रही है, तो आज्यभूत दोनों ऋतुओं का प्रतिनिधि, वसन्त ऋतु को मान लिया गया और कहा-**"वसन्तोऽस्यासीदाज्यम् ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः"**।

शिशिर के पतझड़ के पश्चात् अब वनस्पति-जगत् ने अँगड़ाई ली है। डाल-डाल पर नई कोंपलें, नये फूल रंग-बिरंगी

१. अथर्व० १३।१५२
२. यजु० ३१।१४

गर्दनें उठाकर वसन्त-ऋतु के आगमन की सूचना देने लगी हैं, तो अनायास मुँह से निकलता है **'चित्रम्'**! हर पौधे, हर झाड़ी, हर लता, हर गुल्म ने तरह-तरह के रंग-बिरंगे कपड़े पहने हैं। लताओं ने छीटदार साड़ी पहनी हैं। तितलियाँ भी नई-नई पोशाक पहनकर कभी इस पुष्प पर बैठकर, तो कभी उस पुष्प पर बैठकर, हर पौधे का समाचार जानने को फिर रही हैं कि-आलि! तुम्हारा शरद् और शिशिर कैसा बीता? तुम्हारे दर्शन से हम आज कृतकृत्य हो गये। इस प्रकार एक-एक पौधे का समाचार जानने को यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ उड़ी-उड़ी फिर रही हैं। जिस फूल पर बैठती है अपने परों को बन्द करके, कभी खोलकर, फिर बन्द करके, बराबर ताली दे-देकर वसन्त-आगमन पर बधाई-गीत गाती हुई कोयल का साथ देती है तो सहसा निकलता है **'चित्रम्'**! न केवल वनस्पति-जगत् ही ने नई कोंपलें, नये फूल-फल निकाले हैं, पशु-पक्षी जगत् को देखो, इनका भी कायापलट हो गया है। मोर को देखो, शरद्-शिशिर में इसके भी पर झड़ गये थे, इन ऋतुओं में बड़े भद्दे प्रतीत होते थे, मोर-मोरनी की पहचान कठिन थी। अब वसन्त के आते ही नये पर निकल आए, फिर से नये चन्दों को धारण कर, मस्तक पर नई कलग़ी लगा पक्षी-जगत् का राजा बन बैठा। जिस किसी भी पक्षी को देखो, उसमें नयापन है। पशुओं को देखो, उनका भी रूआँ-रूआँ बदल गया है। पहले के रोएँ झड़ गये हैं, जो शिशिर से मुरझा गये थे; अब नये निकल आये हैं। हरिणों को देखिये गौवों को देखे, भेंड़-बकरी सभी का यही हाल है। इन सबको देखिये और **चित्रम्** कहिये। इस मास में जिधर भी देखोगे सहसा **'चित्रम्'** निकलेगा, इसलिए इस मास को चैत्रमास कहते हैं, जो वसन्त ऋतु के दो मासों में पहला है। अब रहा वैशाख। पतक्षड़ ने डाल-पात सभी झुलसा दिया था, जैसे ग्रीष्म से सब-कुछ झुलस जाता है। इधर शिशिर से यही कुछ होता है, पेड़-पौधे बिना डाल-पात के

ठूँठ-से खड़े रहते हैं, वीरान-सा प्रतीत होने लगता है। वसन्त-आगमन इसलिए है कि वह उन्हें फिर से बसाए, उजड़े हुओं को बसन दे। बस यही हुआ, नई शाखएँ फूट आईं, कोंपलें निकल आईं, कलियाँ और फूल आए। माली ने जिन वृक्षों को सर्वथा ठूँठ बना दिया था, उनकी शाखा-प्रशाखा को काट दिया था, लो वसन्त के आने से सभी की तरह-तरह की शाखाएँ निकल आईं। हाथ उठा-उठाकर तथा फैला-फैलाकर वसन्त-आगमन का अनुमोदन कर रही थीं। बस, विविध शाखाओं और विशेष साख बना देने से इस मास का नाम वैशाख मास हो गया। वसन्त के द्योतक यही दो मास चैत्र, वैशाख, वनस्पति-जगत् को पुष्पों, कोंपलों और फलों से चित्रित करते हैं तथा नई-नई तथा तरह-तरह की शाखाओं वाला बना देते हैं। अतः कहा जा सकता है कि अब उद्यान लहलहा गया। लो जीत लिया, जीत लिया, इसलिए '**वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्**'।

संवत्सर यज्ञ का आज्य वसन्त-

देवों ने जो पुरुष-रूप हवि से यज्ञ का विस्तार किया तो वसन्त ऋतु आज्य था, ग्रीष्म ऋतु समिधा थी और शरद् ऋतु हवि था। वसन्त और आज्य का, ग्रीष्म और समिधा का, तथा शरद् और हवि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ आज्य स्नेह का प्रतीक है वहाँ वसन्त भी स्नेह का प्रतीक है इसी प्रकार जहाँ समिधा शुष्कता का प्रतीक है वहाँ ग्रीष्म भी शुष्कता का प्रवर्तक है। यही संगति हवि और शरद् की भी समझनी चाहिए।

यह जगत् अग्नि और सोम के उचित मेल का परिणाम है। ग्रीष्म और समिधा आग्नेय हैं, वसन्त और आज्य सौम्य हैं, शरद् और हवि दोनों फल हैं जो कि ग्रीष्म-वसन्तरूप अग्निषोमीय परिणय की प्रसूति है।

वसन्त-आज्य की प्राथमिकता-

ऋतुओं में वसन्त की प्राथमिकता[१] है और यज्ञाहुतियों में

१. ऋतूनां कुसुमाकरः-गीता १०।३५

उसी प्रकार आज्य की प्राथमिकता है[1]। घृत स्नेह का, स्निग्धता का, सरसता का प्रतीक है। घृत के बिना न यज्ञशाला का कार्य सम्पन्न होता है, न पाकशाला का, और न किसी कार्यशाला का। किसी भी यज्ञ में सभी घटक हों, परन्तु घृत न हो तो वह यज्ञ सफलता को प्राप्त न होगा। **ल्युब्रिकेशन** के अभाव में जैसे समस्त यंत्र खड़-खड़ाने लगता है, तद्वत् **घृत** के बिना समस्त यज्ञ-तंत्र खड़खड़ाने-लड़खड़ाने लगेगा। वर्ष में सभी कुछ हो, सब ऋतुएँ हों, परन्तु वसन्त न हो तो वर्ष भी खड़खड़ाने लगेगा, सर्वथा शुष्क और नीरस हो जायेगा। इसलिए दो शुष्क ऋतुओं के मध्य एक स्निग्ध और सरस ऋतु का आगमन आवश्यक है। ग्रीष्म और शरद् के मध्य वर्षा, तथा शरद् और ग्रीष्म के मध्य वसन्त सन्धि है। यज्ञ में भी समिधा और हवि के मध्य घृत का-आज्य का स्थान है। यजुर्वेद में आज्य को समिधा और हवि को मध्य कड़ी माना है-

'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयत...हव्या जुहोतन'-[2]

किसी भी यज्ञ के सम्पादक यजमान, यजमान-पत्नी, होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और ऋत्विक् आदि कार्यकर्त्ता कितने ही कुशल हों, परन्तु उनमें परस्पर स्नेह न हो तो यज्ञ कभी सफलता को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी आज्य (परस्पर स्नेह) के बल पर ही तो देवों ने विजय-लाभ किया। यही आज्यों का आज्यत्व है।[3] ऋत्विजों (कार्यकत्ताओं) का पारस्परिक स्नेह बड़े-बड़े कठिनाईरूप पहाड़ को काट देता है। इसलिए आज्य को वज्र भी कहा है[4]। लोहे आदि कठोर वस्तुओं को काटने के साधन छैनी आदि में जल अथवा तैल (आज्य) का संस्पर्श आवश्यक है। इसलिए घृत भी वज्र है। आज्य-रूप वज्र से देवों

१. नहि हविरनभिघृतमस्ति-मै० सं० १।१०।२०
२. यजु० ३।१
३. आज्येन वै देवाः सर्वान् कामान् अजयन्सर्वममृतत्वम्।-कौ० ब्रा० १४।१
४. वज्रो वा आज्य-शत० ब्रा० १।५।३।४

ने ऋतुओं और संवत्सर को जीत लिया। इसी प्रकार यज्ञ करने वाला, इस आज्य-रूप वज्र के द्वारा ऋतुओं और संवत्सर को जीत लेता है।[1]

संवत्सर-गाय का दूध-

यह संवत्सर-रूप गाय का विशेष दूध है जो यह आज्य है[2]। अर्थात् जिस वर्ष, संवत्सर (प्रजापति) अन्न भरपूर उत्पन्न करता है, उस वर्ष पशुओं को भरपूर भोजन मिलता है, अतः वे भरपूर दूध देते हैं। भरपूर दूध होने से भरपूर आज्य होता है। भरपूर आज्य होने से यज्ञों में भरपूर आज्य डाला जाता है। भरपूर आज्य डालने से भरपूर वृष्टि से भरपूर अन्न होता है। इस प्रकार आज्य के द्वारा भरपूर वृष्टि होती है। भरपूर वृष्टि से भरपूर अन्न को जीत लिया जाता है, परिणामतः अन्न से प्रजाएँ होती हैं इस प्रकार वर्षा, अन्न और प्रजाएँ आज्य द्वारा जीत ली जाती हैं, यही आज्यों का आज्यत्व है।

मनु और आज्य (हवि)

मनु ने भी शतपथ-ब्राह्मण की इस बात को अति स्पष्ट कर दिया कि 'अग्नि में डाली गई हवि (आज्य आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं।'[3]

द्यावापृथिवी का रस-

पृथिवी-लोक का रस, सूर्य-ताप द्वारा द्युलोक में संगृहीत होता रहता है। समय आने पर वह वर्षा-रूप में पुनः पृथिवी पर

---

१. वज्रो वा आज्य+एतेन वै देवाः वज्रेण आज्येन ऋतून्, संवत्सरं प्राजयन्। शत० ब्रा० १।५।३।४

२. एतद्वै संवत्सरस्य स्वं पयो यदाज्यं, तत्स्वेनैवैनमेतत् पयसा देवास्स्वंकुर्वेत तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते।
-श० ब्रा० १।५।३।५

३. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। मनु० ३।७६
'अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते'-मै० उ० ६।११

लौट आता है। उससे पृथिवी और उस पर उगी ओषधि-वनस्पति सिंचित होती है जिससे पृथिवी 'रसा' और ओषधियाँ 'रसायन' नाम को सार्थक करती हैं। उस 'रसायन' को खाकर पशु गोरस देते हैं और उस गोरस से आज्य उत्पन्न होता है। इसीलिए शतपथकार ने कहा **'आज्यं ह वा अनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसः'**[१]।

देवों की तनू-

अभी लिखा गया है कि आज्य द्यावा-पृथिवी का रस है। यह कहा जाये कि आज्य रसों का भी रस है तो भी अत्युक्ति न होगी। उस रस का उपभोग करके व्यक्ति वीर्यवान् बनता है। शरीर में रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से अस्थि, अस्थि से मज्जा मज्जा से वीर्य=वज्र=(आज्य)[२] बनता है। यह 'आज्य' त्रिलोकी में विद्यमान देवों, और शरीर में विद्यमान देवों की तनू है **'एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः यदाज्यम्।'**[३]

अनिरुक्त आज्य-

अन्त में यही कहना होगा कि आज्य भी प्रजापति की भाँति अनिरुक्त है। जैसे प्रजापति का अनन्त विस्तार है, वैसे ही आज्य का भी अनन्त विस्तार है। विश्व-भुवन की नाभि यज्ञ है। यज्ञ की नाभि अग्नि है। अग्नि की नाभि आज्य है। कक्षाभेद से यज्ञ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, अधिज्योतिष, अधिप्रज, अधिराष्ट्र आदि बहुविध है, अतः अग्नियाँ बहुविध हैं और तथैव आज्य भी बहुविध हैं। अध्यात्म यज्ञ में सत्य आज्य है, चित्त आज्य है, तेज आज्य है, वाक् आज्य है, अधिप्रज में काम आज्य है, रेतस् आज्य है, अधिविद्य में सभी स्वर आज्य हैं। इसलिए कहा 'अनिरुक्त' उ वै प्रजापतिः,

१. शत० ब्रा० २।४।३।१०
२. रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रम्।-अष्टांगहृदय, शरीरस्थान २।६
३. तै० ब्रा० ३।३।४।६

अनिरुक्तानि-आज्यानि'[१]।

अग्नि का बोधक-

अग्निहोत्र में अग्नि-उद्‌बोधन के समय तीन तत्त्व उपयोग में आते हैं-**समिधा, आज्य, हविः**। आज्य से अग्नि का बोधन किया जाता है। जब कभी अग्नि मन्द पड़ने लगती है तो पुरोहित कहता है **घृतैर् बोधयत**-अरे भई! घी से चेताओ। हमने घी को स्नेह का प्रतीक माना है। प्रतीक क्या, वह स्वयं स्नेह है। यदि किसी व्यक्ति में संकल्प अथवा व्रताग्नि मन्द पड़ जाये तो उसे स्नेह से चेताओ, उसका उद्‌बोधन करो।

वसन्त-रूप आज्य-संवत्सर यज्ञ में वसन्त, आज्य का प्रतिनिधि है। हेमन्त में जो वृक्ष पत्र-पुष्प-फलविहीन हो गये थे, वसन्त के आते ही वे पुनः पल्लवित और पुष्पित हो उठे, मानो **वसन्त आज्य** ने सबको चेता दिया। हेमन्त में जो ठिठुर गए थे-सो गए थे-सिर डाले पड़े थे-मन्द थे, उनमें **'वसन्त आज्य'** ने प्राण डाल दिये। माली ने भी सोचा यही अवसर है नये पौधों को रोपने का, पेड़-पौधों की कलम लगाने का। अब हेमन्त की रूक्षता जाती रही थी। **'वसन्त आज्य'** की आहुति डाली जा रही थी। वसन्त, सब में बसकर सबको बसा रहा था। वसन्त का यही काम है-सबमें उत्साह भर देना, जगा देना, नई चेतना और नई उमंग उत्पन्न कर देना, जो अग्निहोत्र में घृत का काम है वही संवत्सर में वसन्त का काम है। इसीलिए कहा-**वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्**। आदिसर्ग में प्रलयावस्था (हेमन्त) में पड़े अणु-अणु चेष्टाशील हो उठे-रचना का उपाकर्म हो गया।

सर्वः खल्वयं यज्ञः-

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यदि हम नवीन वेदान्तियों के **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**[२] की भाँति **'सर्वः खल्वयं यज्ञः'** कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि ब्रह्मा ने सृष्टिरचना के समय

१. तां० ब्रा० ७।८।३
२. त्रिपाद्‌विभूति महानारायणोपनिषद्-१।३

स्वयं यज्ञरूप धारण किया था। उस समय उसका नाम **सर्वहुत् यज्ञ** था। पुरुष सूक्त में कहा भी है-**तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।**[१] **तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।।**[२] तथा च **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**[३]। इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि यह सब-कुछ यज्ञमय है। जिधर दृष्टि पसारो यज्ञ-ही-यज्ञ है-ब्रह्माण्ड यज्ञमय है, पिण्ड यज्ञमय है, विराट् यज्ञमय है, एकराट् यज्ञमय है।

यज्ञ तिहरा है यज्ञ को शतपथ ब्राह्मण ने त्रिवृत् कहा है। **'त्रिवृद्धि यज्ञः'**[४]-यज्ञ तिहरा है, तिलड़ा है, तीन से घिरा है। सृष्टि-यज्ञ' में दीक्षित व्यक्ति भी तीन ही हैं- (१) ब्रह्म, (२) जीव और (३) प्रकृति। ये तीनों अनादि तत्त्व भी अपने स्वरूप में त्रिवृत् हैं।

ब्रह्मत्रिवृत्[५], ब्रह्म के सत्-चित् आनन्द[६] गुण भी तीन हैं-उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय **कर्म** भी तीन ही है।- सत्य, ज्ञान, अनन्त, अथवा ज्ञान, बल, क्रिया। **स्वभाव** भी तीन ही हैं। ब्रह्म के निज नाम के अकार, उकार, मकार **अक्षर** भी तीन ही हैं।

जीव भी त्रिवृत् (तिहरा) है-

जीव के ज्ञान, कर्म, फल **गुण** भी तीन ही हैं-सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण **कर्म** भी तीन ही हैं-इच्छा, द्वेष, प्रयत्न **स्वभाव** भी तीन ही है। और इन तीन के अभीष्ट सुख, दुःख, मोक्ष **फल** भी तीन ही हैं।

प्रकृति भी त्रिवृत् (तिहरी) है-

प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् **गुण** भी तीन हैं। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय **विकार** भी तीन ही हैं। उससे निर्मित स्थूल, सूक्ष्म,

---

१. ऋग्वेद, १०।९०।८,९,१६
२. ऋग्वेद, १०।९०।८,९,१६
३. ऋग्वेद, १०।९०।८,९,१६
४. ऋग्वेद, १०।१२४।१; श० ब्रा० १।१।४।२३
५. जै० बा० ३।३३८
६. ना० ३०।२।१, ८; वे० द० १।२

कारण देह भी तीन ही हैं। सात्त्विक, राजसिक, तामसिक अथवा अन्न, प्राण और मन के **बन्धन** भी तीन ही हैं। इन बन्धनों की निवृत्ति के साधन ज्ञान, कर्म, उपासना **योग** भी तीन ही हैं।

मनुष्य की यज्ञमयता के लिए त्रिक् आवश्यक है-

मनुष्य यज्ञमय है, इसकी यज्ञमयता को दिखाने के लिए शरीर पर धारण किये जाने योग्य शिखा, सूत्र, मेखला **चिह्न** भी तीन ही हैं। सभी से धारित किये जाने वाले दण्ड का **नाप** भी तिहरा ही होता है। फिर शिखा, सूत्र, मेखला भी तिहरे-तिहरे ही होते हैं। तिहरा किये बिना स्त्रियाँ चोटी बना ही नहीं सकतीं, गूँथ ही नहीं सकतीं। सूत्र तो तिहरा होता ही है। मेखला को भी तगड़ी कहते हैं।

यज्ञ भी तिहरा है-

उक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर कर्मकाण्ड के विधायकों ने यज्ञ को भी तिहरा ही रक्खा है। जिनके लिए यज्ञ विहित है वे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ **आश्रम** भी तीन ही हैं। जिनके लिए यज्ञ का विधान है वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य **वर्ण** भी तीन ही हैं। यज्ञ करने वाले कम-से-कम यजमान, यजमानपत्नी और पुरोहित **व्यक्ति** भी तीन ही हैं। यज्ञ के प्रातः, माध्यन्दिन, और सायं **सवन** भी तीन ही हैं। आहवनीय, दक्षिण और गार्हपत्य **अग्नियाँ** भी तीन हैं। अग्नियों की प्राप्ति के लिए समिधा, घृत और हवि **साधन** भी तीन ही हैं। अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए भूः भुवः स्वः **महाव्याहृतियाँ** भी तीन ही हैं। यजमान के हाथ में समर्पण की प्रतीक समिधा भी तीन ही हैं। और तो और, जिस यज्ञियवृक्ष की समिधाएँ सर्वोत्तम मानी जाती हैं उस ढाक के **पत्ते** भी तीन ही हैं। कहावत है **'वही ढाक के तीन पात।'** आहुति डालने के लिए बनाई जाने वाली चुटकी की मध्यमा, अनामिका और अंगुष्ठ **अंगुलियाँ** भी तीन ही हैं। यज्ञ में किये जाने वाले आचमन भी तीन ही हैं। यज्ञ की पूर्णता की सूचक

आहुतियाँ भी तीन ही हैं। इन सब त्रिकों का समाधि में प्रत्यक्ष करके ही भगवान् पाणिनि मुनि ने यज्ञ शब्द की मूल धातु के देव-पूजा, संगतिकरण और दान **अर्थ** भी तीन ही सुनिश्चित किये हैं। हमने भी ग्रन्थ के प्रथम भाग को पूजा, संगति करण और दान के प्रतीक **हवि, समिधा** और **घृत** तीन पात्रों का अभिनय मात्र दिखाकर समाप्त कर दिया है। अभी पाठकों को इसी पर संतोष करना होगा। हम शीघ्र ही बच रहे पात्रों को वेदि-मञ्च पर अभिनयार्थ लाएँगे। इस दृश्य को इस श्लोक के साथ समाप्त करते हैं-

श्रूयतां होत्रसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
'पय एवेति' होत्राय, मोक्षाय **'न ममेति'** च॥

:::::::